कथनी-करनी

डॉ. रामकृष्ण सराफ

पुस्तक-प्राप्ति-

कथनी-करनी

बन्धुवर श्री० पुरुषोत्तमदास मोदी जी को
सादर-सप्रेम,

29.01.2007
(डॉ० रामकृष्ण सराफ)

डॉ० रामकृष्ण सराफ

लोक शिक्षण संचालनालय भोपाल के आदेश क्रमांक/ग्रंथा./समीक्षा/1/99/2000/52 संशोधित भोपाल दिनांक 11.6.2002 द्वारा राज्य के जिला एवं केन्द्रीय पुस्तकालयों तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के पुस्तकालयों हेतु स्वीकृत

कथनी-करनी

उपसंचालक क्षेत्रीय कार्यालय नवोदय विद्यालय समिति भोपाल के पत्र क्रमांक बी/आर/2002/ग्रन्थालय दिनांक 26.8.2002 के द्वारा समस्त अधीनस्थ जवाहर नवोदय विद्यालयों के ग्रन्थालयों के लिए स्वीकृत एवं अनुशंसित

प्रथम संस्करण : 1999

प्रकाशक :-
आदित्य प्रकाशन
ई-4/64 अरेरा कॉलोनी
भोपाल (मध्यप्रदेश)
पिन 462016
फोन : 566393

आवरण सज्जा :-
डॉ. कु. सुमन वैद्य
एम.ए., पी-एच.डी.
ई-6/ एल.आई.जी./ ए-40
अरेरा कॉलोनी भोपाल (म.प्र.)

मूल्य : 75/-

मुद्रक :- राजकमल ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल
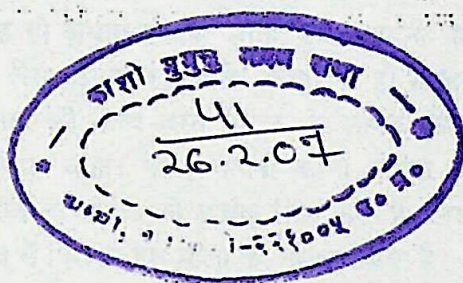
समर्पण

वात्सल्यमूर्ति स्व. पू. पितृपाद

एवं

ममतामयी स्व. पू. मातृश्री

की पुण्य स्मृति में

प्रकाशकीय

लेख-संग्रह हो अथवा कहानी-संग्रह, एक सामान्य चलन यह हो गया है कि संग्रह के प्रथम लेख अथवा कहानी के आधार पर ही संग्रह का नाम रख दिया जाता है। शेष पुस्तक की कथ्य-वस्तु पुस्तक के शीर्षक को चरितार्थ करे, यह आवश्यक नहीं समझा जाता। परन्तु कथनी-करनी नामक इस लेख-संग्रह के अधिकांश लेख पुस्तक के शीर्षक को सार्थक सिद्ध करते हैं। लेखक ने ऐसे सत्ताईस मणियों को एक सूत्र में पिरोकर इस माला का गुम्फन किया है।

महात्मा गांधी के समय से असहयोग और सविनय अवज्ञा से प्रारम्भ होकर हमारा लोकतन्त्र अविनय अवज्ञा की पताका फहराता हुआ आज जिस भीड़ तन्त्र, हुल्लड़ तन्त्र और घपला-घुटाला तन्त्र में परिवर्तित होता जा रहा है, नैतिकता के तिरोहित होते मानदण्ड दूरदर्शन की जिस झंझा में अस्तित्व-अन-अस्तित्व के अन्तिम क्षणों में संघर्षरत हैं, भूल से भी धर्म और राम का नाम मुख से निकल जाने पर वक्ता को क्षमायाचना की मुद्रा अपनानी पड़ती हो, समाज और परिवार के ध्वंसावशेषों पर जहां व्यक्ति के स्वार्थ और अहं का नग्न प्रदर्शन हावी हो, अश्लीलता, नंगापन और निर्लज्जता जिस समाज में साहस और दिलेरी के पर्याय बन गए हों, धनबल, जनबल, बाहुबल और रक्तरंजित हथकण्डे जहां चुनावी रणकौशल का मान्य आचरण बनते जा रहे हों, वहां ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का उद्घोष करने वाली कल्याणी वाणी के भारतीय संस्कृति के स्वरों का अध्यात्म से अनुप्राणित सन्देश, भले ही किसी को नक्कार खाने में तूती की आवाज प्रतीत हो, परन्तु सनातन के ऊर्जस्वित प्राणों का यह कोमल क़लरव जो सन्देश दे रहा है, उसी के बल पर भारत सदियों तक विश्व में पूज्य रहा है। स्मृतिकार के स्वर युगों तक विश्वसभ्यता के शिखर से पुकारते रहे हैं-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशांदग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। मनु. 2-20

''इस भारत देश में उत्पन्न होने वाले अग्रजन्मा ऋषियों से पृथ्वी के सभी मानव अपने-अपने चरित्र-आचरण की शिक्षा लें।''

पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरणरूपी वात्याचक्र में फंसकर हमारी भावी पीढ़ी का जलयान विनाशकारी उत्ताल तरंगों का ग्रास न बन जाये, इसके लिए भारतीय मनीषा के आलोक से ज्योतिर्मय यह लेखमाला सिकन्दरिया के आलोक स्तम्भ का काम देगी ऐसा विश्वास है।

हमारे पचास वर्षों के लोकतन्त्र में लोक तो तिरोहित हो गया है, और जड़ तन्त्र नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर अट्टहास कर रहा है। एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। संसद अथवा विधान सभा में किसी भ्रष्ट मंत्री के विरुद्ध बहस छिड़ने पर सम्पूर्ण सत्तापक्ष उस मंत्री के बचाव में एकजुट होकर ढाल का काम करता है। बड़ी ही निर्लज्जता और बेशर्मी के साथ उसका समर्थन किया जाता है, ह्विप जारी किया जाता है। जबकि सीधा सा उपाय उस मंत्री को हटा देना ही होना चाहिए। कालिदास यही तो कहते हैं–

त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदंगुलीवोरगक्षता। रघु. 1–28

राजनीति का नियम रहा है कि कोई भी व्यक्ति राजा या शासन का कैसा भी प्रिय क्यों न हो, यदि वह भ्रष्ट है, दूषित है, तो उसी प्रकार त्याज्य है जैसे कि सर्पदंश से दूषित उंगली।

विद्वान् लेखक ने अपने इन लेखों में भारतीय मनीषा के उन रत्नों को संजोया है जिनकी आज के वातावरण में नितान्त आवश्यकता है। और यह उद्‌बोधन प्रारम्भ होता है– मन, वचन और कर्म की एकरूपता से। मेकियावलियन नीति के स्थान पर मन–वचन–कर्म की एकरूपता वाले सिद्धांत को अपनाया जा सके, तो छल–कपट और दम्भ राजनीति से सदा के लिए बिदा हो जायेंगे, राजनेता सच्चे जननेता के रूप में प्रतिष्ठित हो सकेंगे। लेखक ने प्रायः प्रत्येक लेख में राष्ट्रहित का उल्लेख करते हुए अपेक्षा की है कि हमारा चिन्तन क्षुद्र व्यक्तिगत सीमाओं में आबद्ध न होकर समाज, राष्ट्र और विश्वबन्धुत्व की ओर उन्मुख हो। धर्म का अर्थ रिलीजन नहीं है, साम्प्रदायिकता नहीं है, तअस्सुब नहीं है, मजहब परस्ती नहीं है, वरन् धर्म को कर्म से एकाकार करके देखा गया है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों के अभ्युदय–उत्थान और निःश्रेयस–कल्याण की सिद्धि हो। जापान के उत्थान का अनेक बार उल्लेख करते हुए अपेक्षा की गई है कि हमारा चिन्तन राष्ट्रहित में हो। 'सुख का स्वरूप', 'तृष्णा', 'अनासक्त योग' और 'संस्कृति का सार : अतिथि–

सत्कार' जैसे लेखों में विद्वान् मनीषी ने वेदों से लेकर पुराणों तक के विभिन्न उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि अनागत की चिन्ता, भय और आशंकाओं के कारण हम विराट् से निरन्तर बौने बनते जा रहे हैं। शिक्षा-केन्द्रों में वर्तमान में जो उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता और दिशाहीनता की स्थिति है, उससे व्यथित होकर ही लेखक को 'कालिदास की दृष्टि में शिक्षा' जैसा लेख प्रस्तुत करना पड़ा है। हमारे प्राचीन, कवि, लेखक, रचनाकार, मनीषी किस प्रकार समाज को अपने कान्ता-सम्मित उपदेशों अथवा शुगरकोटेड गोली की भांति श्रेय के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते थे, इसे 'भयउ न भुवन भरत सम भाई', 'महाकवि कालिदास के भगवान् शिव,' 'बाणभट्ट का राष्ट्रीय चिन्तन' और 'भगवान् श्रीकृष्ण और योग' जैसे लेखों में स्पष्ट किया गया है।

लेखक ने अपने लेखों में यह ध्यान रखा है कि उसके उद्बोधन से देश की नई पीढ़ी को प्राचीन भारतीय जीवन मूल्यों की जानकारी के साथ प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण हो, उसमें व्यक्तिगत स्वार्थों के स्थान पर परिवार, समाज, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य-बोध जाग्रत हो और भारत अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त कर सके। पुस्तक संग्रहणीय ही नहीं, वरन् इसका प्रत्येक लेख पठनीय और मननीय भी है।

प्रकाशक

अपनी बात

प्रस्तुत संकलन मेरे कुछ चुने हुए लेखों का संग्रह है। ये लेख समय-समय पर देश और प्रदेश की प्रतिष्ठित साहित्यिक/सांस्कृतिक/आध्यात्मिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इन लेखों में उन तत्त्वों को उजागर करने का यत्न किया गया है, जो भारत की संस्कृति के दृढ़ स्तम्भ हैं और जिनसे भारतीय संस्कृति की विश्व में प्रतिष्ठा है। कथनी-करनी की एक रूपता भारत देश की अपनी चिरन्तन विशेषता है। अपने दिये हुए वचन की रक्षा के लिए यहाँ नरेशों ने अपना राजपाट तो क्या प्राणों तक का सहर्ष त्याग किया है। अपने वचन की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करने में तो प्रजा और प्रजानाथ दोनों के बीच होड़ रहती थी। दयाकर्म की श्रेष्ठता पुष्कल रूप से भारतीय वाङ्मय में निरूपित मिलती है। कर्त्तव्य-निष्पादन के प्रति सजगता भी भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। कर्त्तव्यकर्म को तो यहाँ पूजाकार्य माना गया है। निःस्पृह भाव से अपने कर्म-निष्पादन के मार्ग में आने वाले संकटों की किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता न करना इस देश की मिट्टी की अपनी सशक्त पहिचान है। प्राणि-मात्र के प्रति समभाव और प्रेम तथा आचरण की पवित्रता को यहाँ परम धर्म माना गया है। नैतिक मूल्यों की सर्वदा संरक्षा हुई है। अन्याय का सदा प्रतिकार किया गया है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, विवेकानन्द प्रभृति तेजस्वी उन्नायकों के उदात्त आचरण से इस देश का मस्तक सदा समुन्नत रहा है। इसीलिए भारत पूर्व में विश्व का सम्पूज्य रहा है। नैतिक/आध्यात्मिक ज्ञानसम्पदा इस देश की अक्षुण्ण धरोहर है। अध्यात्म के क्षेत्र में भारत ने जिन उत्तुंग शिखरों का संस्पर्श किया, वे आज भी अविजेय हैं।

किन्तु वर्तमान स्थिति चिन्ताजनक है। आज नैतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं। अनैतिकता अपनी चरम सीमा पर है। कथनी-करनी, ये शब्द अपने अर्थ खो रहे हैं। अनाविल आचरण का उपहास/विलोप हो रहा है। असत्य, अन्याय, अत्याचार, अनाचार, परिग्रह का चतुर्दिक् साम्राज्य है। लोग स्वार्थ, अविश्वास, संकीर्णता, अर्थलिप्सा, पदलिप्सा आदि के शिकार हो रहे हैं। आपसी सौहार्द, परस्पर विश्वास,

सहिष्णुता, परदु:खकातरता विलुप्तप्राय हैं। कर्त्तव्यकर्म से लोग विमुख हो रहे हैं। नि:स्वार्थ सेवा-धर्म तो समाप्त ही है। असन्तोष की भावना प्राय: सर्वत्र व्याप्त है। जो कुछ अच्छा बचा है, वह विनष्ट हो रहा है। आशा की किरण दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रही है।

ऐसा नहीं है, कि मूल्यों में गिरावट पूर्व में कभी आयी ही नहीं। राम ने अपने युग में मूल्यों की स्थापना के लिए दुर्धर्ष संघर्ष किया और कृष्ण ने अपने युग में। हर अवतार पुरुष को अपने-अपने युग में यही करना पड़ा है। असत् का प्रतिकार किया और सत् की संस्थापना की। किन्तु वर्तमान युग का परिदृश्य विशेष निराशाजनक है। अत: स्थिति के निराकरण हेतु सत् को सतत यत्नशील रहना है। तभी कृष्ण मेघ विच्छिन्न होंगे। निशा के अवसान पर आलोक का आगमन अवश्य होता है।

प्रस्तुत संकलन में यही भाव अभिव्यंजित है। लेखों में यथाप्रसंग उन उदात्त गुणों को रेखांकित किया गया है, जिनकी आज के युग में प्रासंगिकता है, अपरिहार्यता है। यदि लेखों में निराशा के निराकरण और आशा के स्फुरण की किरण मिलती है, तो यह परम सन्तोष का विषय होगा। समग्र संकलन में वचन एवं कर्म की एकरूपता को केन्द्रीय भाव के रूप में रखा गया है। इसी उद्देश्य से संकलन का शीर्षक कथनी-करनी रखा गया है। पुस्तक में हमारे शाश्वत नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों की उपादेयता तथा संरक्षा को रेखांकित किया गया है, ताकि देश सही अर्थों में समृद्ध एवं शक्तिशाली बने तथा विश्व में अन्य देशों के मध्य उसका मस्तक गौरव से सर्वदा उन्नत रहे। स्वामी विवेकानन्द ने ऐसे ही चरित्र-सम्पन्न एवं समर्थतर भारत की कल्पना की थी।

पुस्तकाकार प्रकाशित ये लेख विभिन्न मासिक/त्रैमासिक/वार्षिक पत्रिकाओं में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होते रहे हैं। उनके समवेतरूप से प्रकाशित होने पर पुस्तक में कहीं-कहीं सन्दर्भों अथवा भावों की पुनरुक्ति का प्रसंग प्रतीत हो सकता है, जबकि लेखों के अलग-अलग प्रकाशित होने पर ऐसी स्थिति नहीं बनती।

मैं अपने सभी आदरणीय शुभचिन्तकों एवं विद्वान् मित्र-बन्धुओं के प्रति सादर आभार व्यक्त करता हूँ, जो इन लेखों को पुस्तकरूप में प्रस्तुत करने का मुझसे निरन्तर आग्रह करते रहे हैं।

मैं आदित्यप्रकाशन भोपाल के सहृदय व्यवस्थापकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन का भार सहज उदारभाव से अङ्गीकार कर

प्राचीन संस्कृति तथा भारतीय मूल्यों के प्रति अपनी अपार आस्था एवं प्रगाढ़ श्रध्दा का परिचय दिया है।

अन्त में राजकमल आफसेट भोपाल के स्वत्वाधिकारी श्री त्रिलोकी नाथ गोयल को मैं साधुवाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक का मुद्रण-कार्य सरलभाव से स्वीकार किया तथा न्यूनतम समयावधि में कार्य को पूर्ण किया।

भोपाल **लेखक**

विजया दशमी

संवत् 2056 वि.

अनुक्रमणिका

कथनी-करनी

संस्कृत के एक सुभाषित में सज्जनों और दुर्जनों के बीच का अन्तर बतलाते हुए कहा गया है कि सज्जनों के मन, वचन और कर्म में सदा एकरूपता होती है, जबकि दुर्जनों के मन में रहता कुछ और है। वे कहते कुछ ओर हैं और करते कुछ और ही हैं। उनके मन, वचन ओर कर्म के बीच कभी भी एकरूपता नहीं होती।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनः।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनः॥

सज्जनों और दुर्जनों के बीच का भेद स्पष्ट करने वाला यह अत्यन्त सीधा सा आधार है। इसी से मनुष्य के आचरण को सरलता से समझा जा सकता है और उसी से ही ज्ञात हो जाता है कि वह पुरुष पवित्रात्मा है अथवा दुरात्मा।

कथनी ओर करनी की एकरूपता हमारी संस्कृति का मूल तत्त्व है। इसी से देश की विश्व में प्रतिष्ठा रही है और इसी कारण यह देश विश्व में पूज्य रहा है। दया ओर दान भारतीय संस्कृति के दो महनीय गुण हैं। ये उदात्त गुण यहां की वायु में सदा सम्पृक्त रहे हैं। इसीलिए यहाँ दान और दयाधर्म कर्त्तव्य कर्म के रूप में स्वीकृत मिलते हैं। यहाँ दानशीलता और दयाभाव के एक नहीं, दो नहीं, अपितु अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ दया अथवा दानकर्म के पीछे कोई आत्म-प्रचार अथवा आत्मप्रशंसा की क्षुद्र भावना नहीं होती थी, बल्कि यह कार्य परम धर्म मानकर किया जाता था और इसमें कर्ता को असीम आत्मसंतोष मिलता था। महर्षि दधीचि ने देवताओं को अपनी अस्थियों का सहर्ष दान कर दिया, ताकि उन अस्थियों से वे वज्र का निर्माण करें और उस वज्र से असुरों का संहार हो सके तथा संसार में सुख-शांति की स्थापना हो। महाराज शिबि ने दया-द्रवित होकर एक कपोत के प्राणों की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस एक बाज को अर्पित कर दिया और इस प्रकार एक पक्षी को मृत्यु के मुख में जाने से बचा लिया। इस देश की मिट्टी की यह विशेषता रही है, कि यहाँ यदि एक व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति को कोई वचन दे दिया तो वह हर परिस्थिति में अपने दिये हुए वचन का निर्वाह करेगा फिर चाहे अपने वचन के पालन में उसे अपने प्राणों को ही अर्पण क्यों न करना पड़े।

अपने वचन की रक्षा करना तो रघुकुल की आन रही है। भले ही उसके लिए अपने प्राणों का त्याग रघुवंशी राजाओं को क्यों न करना पड़ा हो।

प्राण जाहि बरु वचन न जाई।

यही रघुवंशियों के आचरण का मूल तत्त्व रहा है। महाराज दशरथ ने अपने द्वारा दिये गये वचन के पालन हेतु अपने प्राण त्याग दिये, किन्तु अपना वचन खाली नहीं जाने दिया। राघवेन्द्र राम का उदाहरण तो और भी विलक्षण है। उन्होंने तो अपने नहीं बल्कि अपने पिता के द्वारा दिये गये वचन की रक्षा हेतु स्वयं राजवैभव को तिलांजलि देते हुए चौदह वर्ष का वनवास सहर्ष स्वीकार कर लिया। वन में क्या-क्या विपत्तियां उन्होंने झेलीं-वे किसी से छिपी नहीं है।

इस देश के दानवीरों की यही विशेषता है, कि वे जागृत अवस्था में दिये गये अपने वचन का पालन तो करते ही हैं, यदि स्वप्न में भी वे किसी को वचन दे देते हैं, तो उसका भी वे निर्वाह करते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें किसी भी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े। ऐसा कहा जाता है कि राजा हरिश्चन्द्र ने एक दिन स्वप्न में अपना सारा राजपाट विश्वामित्र मुनि को दान कर दिया था। दूसरे दिन प्रात:काल मुनि को सादर बुलाकर उन्होंने सहर्ष सारा वैभव उन्हें अर्पित कर दिया और सिंहासन छोड़कर चले गये। धर्म की रक्षा के लिये उन्हें न जाने कितने अप्रत्याशित संकटों का सामना करना पड़ा, किन्तु सत्य को उन्होंने आंच नहीं आने दी।

महाराज हरिश्चन्द्र का सत्य-रक्षा का यह व्रत भारतीय संस्कृति का मील का पत्थर है, जो विश्व में आज भी इस तथ्य को उजागर करता है कि यह देश स्वप्न में दिये गये वचन से भी कभी पीछे नहीं हटता था। कथनी और करनी की एकरूपता का यह उज्जवल उदाहरण अपने आप में बेजोड़ है। युग-विपर्यय की यह विडम्बना है, कि जिस देश में स्वप्न में भी दिये गये वचन का सम्मान किया जाता था, वहाँ जागृत अवस्था में भी दिये गये वचन से आज हम मुकर जाते हैं। आज कथनी और करनी-ये शब्द जर्जर हो चुके हैं। इसका कारण है हमारे राष्ट्रीय चरित्र का अभाव।

आज हमारी दृष्टि राष्ट्र पर केन्द्रित न होकर व्यक्ति पर केन्द्रित हो गयी है। वह संकीर्ण से संकीर्णतर होती जा रही है। कर्त्तव्य, सेवा और त्याग आज भोग के रोग से ग्रस्त हैं। परिणामस्वरूप इन उदात्त गुणों का ह्रास हो रहा है। इतिहास इसका

साक्षी है कि महापुरुषों की वाणी से जो वाक्य निकला तो निकला। उसका उन्होंने प्राणपण से निर्वाह किया और अपने देश की प्रतिष्ठा को कायम रखा। महाराणा प्रताप ने कभी मुगल सम्राट् अकबर को अपना सिर नहीं झुकाया। अपने इस व्रत की रक्षा के लिये महाराणा प्रताप को अगणित असहनीय कष्ट झेलने पड़े। जंगल-जंगल उन्हें भटकना पड़ा। सब प्रकार से टूटे, किन्तु अपनी आन को आंच नहीं आने दी। इसीलिए राष्ट्र उन्हें आज भी श्रद्धा से स्मरण करता है। उन्होंने सदा वाणी और क्रिया को एकरूपता प्रदान की और मातृभूमि की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि माना।

आज हम बात तो करते हैं "वसुधैव कुटुम्बकम्" की, किन्तु देश में ही हम एक कुटुम्ब के समान नहीं रह सकते। इससे हमारी कथनी और करनी का पर्दाफाश हो रहा है और लोग हँसते हैं। उचित तो यही होगा कि हमारे राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो। आज यह युग की आवश्यकता है। इससे हम अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठ सकेंगे और हमारे आचरण के आयाम विस्तृत होंगे। राष्ट्र का हित प्रथम और हमारे सभी निजी हित बाद में, हमारे सोच में जब इस भावना के अनुरूप परिवर्तन आवेगा, तभी हमारी कथनी और करनी में एकरूपता संभव है। देश की पतवार को सम्हालने के लिए, देश को सही नेतृत्व प्रदान करने के लिए आज उस कर्मवीर व्रती की आवश्यकता है, जो देश के हित को समझे। केवल महत्वाकांक्षा से ग्रस्त न हो। शब्दों के मोहजाल में फँसाकर अपनी महत्वाकांक्षा की आग में देश को धकेलने वाले तो अनेक हैं, किन्तु उसे सुख-शान्ति और समृद्धि की ओर ले जाने के उद्देश्य से सही नेतृत्व प्रदान करने वाला फकीर कोई विरला ही होता है। इतिहास उसी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता है। ❑

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥
– प्रसाद
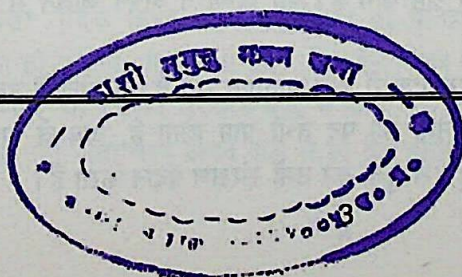
कर्मपूजा

भारतवर्ष कर्म प्रधान देश है। इस देश में सदा कर्म की प्रतिष्ठा हुई है। यहाँ कर्मवीर का सदा सम्मान होता आया है। यहाँ किसी को भी महापुरुष अथवा राष्ट्रनायक के रूप में स्वीकृति, मात्र किसी वंश विशेष में जन्म लेने के फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुई। इस राष्ट्र ने किसी को भी महापुरुष के रूप में तभी स्वीकार किया है, जब वह अपनी परीक्षा में खरा उतरा है। देश का इतिहास इसका साक्षी है। दशरथपुत्र रामचन्द्र को राष्ट्र ने रघु-कुल-तिलक के रूप में तभी स्वीकारा, जब अपने पराक्रम से उन्होंने इसे प्रमाणित कर दिखाया। वह पद उन्हें रघुवंश में जन्म प्राप्त करने मात्र से नहीं प्राप्त हो गया।

पूज्य पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर रामचन्द्र वन को चले गये और वहाँ सुदूर वन प्रदेश में सीताहरण रूपी घोर विपत्ति का बिना विचलित हुये साहस से सामना किया। वन के उपलब्ध साधनों को जुटाकर रावण रूपी आततायी शक्ति से लोहा लिया और उसका उच्छेद कर दक्षिण में आर्य-संस्कृति की स्थापना की। भारतीय संस्कृति में कर्मसाधना का यह बेजोड़ उदाहरण है।

कृष्ण का सारा जीवन ही कर्मपूजा से ओत-प्रोत है। अपने कर्म के बल पर ही बालकृष्ण एवं किशोर कृष्ण ब्रजप्रदेश में गोप-ग्वालों के बीच नेता के रूप में स्थापित हो गये थे। अल्पवय में ही उन्होंने कंसादि राक्षसों का संहार किया और ब्रजप्रदेश को कष्ट मुक्त किया। आगे चलकर महाभारत युद्ध के बीच में अर्जुन को कर्म करने का अद्वितीय उपदेश देकर कर्मवाद की स्थापना की। उनके कर्मदर्शन की अवधारणा भारतीय संस्कृति को उनका अनुपम अवदान है। देश आज उन्हें इसलिये स्मरण नहीं करता कि वे वसुदेव के पुत्र थे अथवा यशोदा की गोद में खेले थे, वरन् इसलिए कि उन्होंने इस देश को कर्म करने की सीख दी। अपना प्राप्य हमें अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करना चाहिये, न कि किसी की अनुकम्पा से अथवा अनुग्रह से। अन्याय का प्रतिकार करना ही श्रेष्ठ-कर्म है। यह कृष्ण ने अपने जीवन से स्थापित किया है।

वैदिक काल से ही इस देश में कर्म प्रतिष्ठित रहा है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि इन्द्र को भी देवताओं के नेता का पद तभी प्राप्त होता है, जब वे असुरों का उच्छेद कर देवताओं को उत्पीड़न से मुक्त कर उन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं।

यः शश्वते मह्येनो दधानाम्
अमन्यमानाञ्छर्वा जधान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां
यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ ऋग्वेद 2-12-10

ऋग्वेद में विष्णु की गतिशील कर्मण्यता तो अद्‌भुत है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में उल्लेख है कि विष्णु ने अपने तीन पदक्षेपों से निखिल विशाल जगन्मण्डल को नाप लिया।

य इदं दीर्धं प्रयतं सधस्थम्।
एको विममे त्रिभिरित्पदेभिः। ऋग्वेद 1-154-3

ऐतरेय ब्राह्मण में कलियुग, द्वापर, त्रेता तथा कृतयुग के संबंध में मौलिक व्याख्या प्राप्त होती है।

कलिः शयानो भवति
संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति,
कृतं संपद्यते चरन्।। ऐ.ब्रा. 7-3-15

मंत्र में कहा है, कि जो शय्या पर सोया हुआ है, वह कलि में है। जो निद्रा से उठकर शय्या को त्याग रहा है, वह द्वापर में है। जो शय्या को छोड़कर उठ खड़ा हुआ है, वह त्रेता में है और जो आलस्य त्यागकर अपने काम में लग गया है, वह कृतयुग में है।

कृतयुग को सत्ययुग भी कहा गया है। कृत का एक अर्थ है कर्म। इस आधार पर कृतयुग का अर्थ है कर्मयुग अर्थात् वह युग जिसमें कर्मशीलता का प्राधान्य है। कर्म ही पुरुषार्थ है और उसी से श्री, समृद्धि और सुख की प्राप्ति होती है।. इसी में कृतयुग की सार्थकता है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण से समस्त लोक को कर्म करने की ओर प्रेरित करने वाली युगों के संबंध में सर्वथा मौलिक व्याख्या मिलती है।

उत्तर वैदिक काल में भी कर्म की ही प्रतिष्ठा रही है। भगवान बुद्ध ने कर्मवाद को ही प्रतिष्ठित किया। उन्होंने जो दर्शन विश्व को दिया, उसे उन्होंने अपने जीवन में स्वयं भी जिया। भगवान बुद्ध ने यहाँ तक कहा है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से श्रेष्ठ नहीं होता वरन् अपने कर्म से ही श्रेष्ठ होता है।

हमारा कर्माचरण ही हमारा धर्माचरण है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होकर केवल इतना सजग रहता है कि जो मेरे उत्तरदायित्व का कार्य है, वह मुझे अवश्य करना है, भले ही उसके लिए मुझे कुछ कष्ट क्यों न उठाना पड़े, क्योंकि उसके न करने से मेरा राष्ट्र कमजोर होगा, तो व्यक्ति का इससे बड़ा और कोई धर्म नहीं हो सकता है। यही प्रत्येक देशवासी का प्रथम धर्म है। इस भावना के विकास के लिए अपरिहार्य है देश के प्रति हमारी संवेदनशीलता।

देश की उत्तरी सीमा पर शून्य से नीचे के तापमान में खड़ा हमारा सजग प्रहरी भले ही सात दिन तक न नहाये और भले ही किसी मन्दिर में जाकर घन्टी न हिलाये अथवा किसी मस्जिद में जाकर इबादत अदा न कर पाये, किन्तु सारी प्राकृतिक आपदाओं को हँसते-हँसते झेलते हुए मात्र इसके लिये सतर्क सचेष्ट रहता है कि मैं जहाँ खड़ा हूँ, वहाँ से शत्रु हमारी देश की सीमा में प्रवेश न कर सके, तो इससे बड़ा, देश के उस प्रहरी का कोई धर्म नहीं है। इसी प्रकार खेत में किसान और कारखाने में मजदूर राष्ट्र के हित को प्रमुख रखकर यदि अपने कार्य को करे तो उससे बड़ा उसका कोई धर्म नहीं है। देश की रक्षा अथवा उसकी उन्नति के किसी भी कार्य में अपने को समर्पित कर देने से बड़ा हमारे लिए कोई धर्म नहीं होता।

जो देश कर्मपूजा को नकारकर उसके स्थान पर व्यक्ति पूजा को प्रश्रय देता है, उसका क्रमशः पतन होने लगता है। वहाँ के लोग परमुखापेक्षी और निष्क्रिय हो जाते हैं। उस देश का आत्मबल और आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है और धीरे-धीरे उसमें वे सब दोष दुर्गुण आ जाते हैं, जो किसी बलवान् देश को भी खोखला बना देते हैं। इसके विपरीत जिस देश में कर्म की पूजा होती है, वह अनेक बार ठोकर खाने के बाद भी उठ खड़ा होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में एटमी प्रहार से ध्वस्त हुए जापान देश ने कभी अपना मनोबल नहीं खोया और अपनी सतत कार्यशीलता एवं पुरुषार्थ के बल पर फिर विश्वमंच पर आज वह एक शक्ति के रूप में उभर कर आ खड़ा हुआ है और अपनी वैज्ञानिक उन्नति तथा सर्वतोन्मुखी राष्ट्रीय प्रगति से विश्व के बड़े-बड़े देशों को आश्चर्यचकित कर रहा है।

जिस देश में कर्म की प्रतिष्ठा है, जहाँ कर्म की पूजा होती है और जो चरित्रवान् है, भला किस अन्य देश में इतना साहस है कि वह उसे आगे बढ़ने से रोक सके? ❑

धर्म : एक दृष्टि

'धर्म' शब्द का अर्थ है कर्म एवं धर्माचरण का अर्थ है कर्माचरण। हमारे धर्म ग्रन्थों अथवा स्मृतियों में कहे गये धर्म के सारे मान्य सिद्धान्तों को हम भले ही पी डालें, किन्तु यदि वे हमारे आचरण में प्रतिबिम्बित नहीं होते तो हम धर्माचरण नहीं कर रहे हैं। प्राचीन समय में जिसे धर्म कहा गया है, वह उस युग के अनुसार करणीय कर्म था। उस युग में यज्ञ करना धर्म इसलिए माना जाता था, क्योंकि उससे हमारी कृषिप्रधान संस्कृति का सीधा सम्बन्ध था। यज्ञ का कृषि को सम्पन्नता प्रदान करने में सीधा योगदान था। यहां तक कि घर में तुलसी का पौधा लगाने का भी वैज्ञानिक महत्व है। हमारे मनीषियों ने इसे समझा थां। अत: उसे धर्म का आवरण पहिना दिया था, ताकि लोग अनिवार्य रूप से उसे अपने आचरण का अंग बना लें। 'धर्म' शब्द का ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है कि वह हमारे लिए आदेश रूप हो जाता है। उसमें हमें विकल्प का प्रसंग ही नहीं रहता। इसीलिए हमारे मनीषी जो कार्य हमसे करवाना कल्याणकर मानते थे, उसे धर्म की संज्ञा देकर हमसे सरलता से करवा लेते थे।

'यतो धर्मस्ततो जय:' में 'जय' शब्द का अर्थ विजय (अभ्युदय) तो है ही, समृद्धि भी अभिप्रेत है। इस दृष्टि से धर्म शब्द का अर्थ कर्म ही समीचीन है, क्योंकि समृद्धि का आधार कर्म अथवा उद्योगशीलता ही है। यदि हमारे आचरण से कर्मपक्ष उठ जावे, तो धर्म की नींव ही हिलने लगेगी। सच तो यह है कि कर्म से ही धर्म का अस्तित्व सम्भव है। धर्म की रक्षा के लिए हमें सतत कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। इतिहास इसका साक्षी है। धर्म का एक पक्षीय अर्थ लेने के कारण ही सोमनाथ के मन्दिर को वहां के धार्मिकों ने अपने सामने लुटते देखा। अन्यत्र भी यही हुआ। गीता में तो श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से कह दिया, 'कर्म करो। वही धर्म है।' धर्माचरण के लिए उन्होंने अर्जुन को किसी सिद्धान्तजाल में नहीं उलझाया।

ब्राह्मण युग में भी उस युग के आचार्यो ने चार युगों के रूढ़ अर्थो से हटकर उनकी नई व्याख्या की एवं व्याख्या को कर्मशीलता का आधार प्रदान किया तथा सुख-समृद्धि को कर्म का फल निरूपित किया।

जिस राष्ट्र में कर्म को ही पूजा माना जाता हो, जहां कर्त्तव्य की भावना को इतनी प्रमुखता मिले, वह कभी भी किसी से पीछे कैसे रह सकता है? अणुबम के प्रहारों

से आहत हुआ राष्ट्र भी अपनी कर्मठता के बल पर आज विश्व के उन्नतिशील एवं शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा है।

हमारा सारा आचरण राष्ट्र और समाज के सन्दर्भ में निर्धारित होना चाहिए। सारा कुछ धार्मिक आचरण करते हुए भी यदि हम अपने राष्ट्र और समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करते तो हम सही अर्थों में धर्माचरण नहीं करते। अपने घर पर तो हम यज्ञ का आयोजन करें और बाहर दफ्तर में घूस लें अथवा दूकान पर शक्कर या सीमेंट की कालाबाजारी करें, तो वास्तव में हमारा यज्ञ-कर्म, धर्म नहीं धोखा है। इस आचरणसंहिता से देश का प्रत्येक सदस्य बंधा है, चाहे वह जिस कार्य में संलग्न हो। अपने आचरण को हमें इस संदर्भ में देखना है। हमारे प्रत्येक आचरण में राष्ट्रकल्याण की भावना निहित होना चाहिए।

'नर की सेवा ही नारायण की सेवा है' यह तथ्य हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए। नदी के किनारे पूजा में संलग्न किसी व्यक्ति के सामने यदि कोई दूसरा व्यक्ति नदी में डूबने लगता है और पूजा में संलग्न वह व्यक्ति तत्काल उस डूबते हुए व्यक्ति को बचाने का उद्योग करता है तथा उसे बचाने में सफल होता है, तो भले ही उसकी पूजा में कुछ विलम्ब अथवा विघ्न उपस्थित हो गया हो, किन्तु उसने उस समय धर्म का सही आचरण किया है, इसमें दो मत नहीं हैं।

हमारे सही धर्माचरण का अर्थ है हमारी कथनी और करनी में एकरूपता। ❑

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥

– भर्तृहरि

धर्म और हम

क्या मानवों के लिए धर्म की आज कोई आवश्यकता रह गयी है अथवा उसके दिन पूरे हो चुके हैं? यह प्रश्न वर्तमान समय में अनेक मस्तिष्कों में उठ रहा है। कतिपय आधुनिक विचारक सोचते हैं कि धर्म को अब भुला दिया जाना चाहिए, क्योंकि उसमें आज की समस्याओं का कोई समाधान नहीं है। समय के अनुसार आज नयी-नयी आवश्यकताएँ जन्म ले रही हैं और उनकी पूर्ति हेतु मनुष्य ने आज नयी-नयी क्षमताओं को विकसित कर लिया है। अतः आधुनिक युग की परिस्थितियों में धर्म की किसी प्रकार की कोई उपयोगिता नहीं रह गई है, बल्कि वह तो आधुनिक प्रगति के मार्ग में अवरोध जैसा खड़ा है। इसलिए अब सही समय आ गया है कि उससे हम मुक्ति पा लें। धर्म के सम्बन्ध में आधुनिक युग के एक वर्ग का यह मानना है। किन्तु यह सोच भ्रान्तिमय और अज्ञानजन्य है।

इतिहास और साहित्य इसके प्रमाण हैं कि मानवता की संरक्षा एवं उसके विकास में आध्यात्मिक मूल्यों की सदैव सर्वोच्च प्रतिष्ठा रही है। जब-जब मानवता और मानवीय मूल्यों के अस्तित्व पर प्रहार हुआ और जब-जब मानव सभ्यता के पैर लड़खड़ाये, तब-तब विनाश से उसकी रक्षा हेतु हर समय भूतल पर एक अभिनव आध्यात्मिक/धार्मिक प्रेरणापुंज का अभ्युदय अवश्य हुआ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी कृष्ण, अहिंसा के प्रवर्तक भगवान महावीर, सम्यक् सम्बुद्ध गौतम बुद्ध, शान्तिदूत ईसा और प्रेम के पैगम्बर मुहम्मद साहब-प्रत्येक ने अपने-अपने युग में अवतरित होकर युग के अनुसार अधर्म-प्रतिकार, कर्त्तव्याचार, विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व और विभिन्न प्राणियों के बीच प्रेम एवं सहिष्णुता का दिव्य-शाश्वत सन्देश संसार को दिया है और इस प्रकार मानवता को विनाश से बचाया है।

वस्तुतः वर्तमान में सदाचारअनुप्राणित नैतिकता का अस्तित्व हमारे धार्मिक-आध्यात्मिक मूल्यों के अस्तित्व के कारण ही कुछ बचा है। क्या संसार में सद्विचार, उत्तम आदर्श, स्वार्थविमुखता एवं मानवता की सेवा का भाव, विश्व के महान् सन्तों, मनीषियों, महापुरुषों और आध्यात्मिक विभूतियों के अमृतमय उपदेशों की देन नहीं है?

वास्तव में नैतिक और धार्मिक मूल्यों के निरंतर क्षय के कारण ही आज सर्वत्र स्वार्थलिप्सा, रक्तपात तथा विनाश का वातावरण व्याप्त है। क्या यही सर्वनाश हमारी सभ्यता का अन्तिम लक्ष्य है? अतः अब हमें स्वकीय-परकीय, इस क्षुद्रभावना से ऊपर उठकर शुद्ध मन से आर्तों एवं साधनविहीनों के कष्टों को दूर करने के लिए उपाय ढूँढना है। प्राणिमात्र के कष्ट निवारण में हाथ बँटाना है। केवल भौतिक सभ्यता और भौतिक प्रगति के विकास के प्रयासों में संलग्न रहने के कारण आज विश्व में मानव-मानव के बीच एक बड़ी गहरी खाई की स्थिति निर्मित हो गयी है। आज विश्व की मुख्य समस्या है, लोगों के बीच शान्ति, सद्भाव और विश्वास की स्थापना करना, जिसके बिना किसी भी समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। किन्तु शान्ति और सद्भावना कुछ लोगों के द्वारा यहां-वहां कुछ बैठकें करने मात्र से स्थापित नहीं हो सकती। इसके लिए सभी को हर स्तर पर स्वयं जागना होगा और सही दिशा में प्रयास स्वयं करना होगा तथा उन तत्त्वों से सावधान रहना होगा जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के पूर्ति के लिए समाज और देश की सुख, शान्ति और समृद्धि में सदा सेंध लगाते रहते हैं।

महात्मा गाँधी ने कहा था कि "सच्चा धर्म हमें कभी भी दूसरों से घृणा करने, असत्य बोलने अथवा विश्वासघात या हिंसा करने की अनुमति नहीं देता।" डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था कि "धर्म अध्यात्म का प्राण है। धर्म से तो विश्व में सत्य और प्रेम की पवित्र भावना के द्वारा प्राणियों के बीच एकात्मता की अनुभूति होती है।"

भौतिकवाद के कारण सभी जगह मनुष्य ने आज जीवन के आन्तरिक मूल्यों के विकास के स्थान पर अपने को काम करने की निर्जीव मशीन मात्र बना रखा है। इससे हमारी संवेदनशीलता समाप्त हो चुकी है। वर्तमान सभ्यता के युग में जीवन के छिन्नछिन्न होने का और जीवन में निराशा एवं अशान्ति का एक कारण यह भी है कि मनुष्य आज धीरे-धीरे धर्म और अध्यात्म के प्रति अपनी आस्था खोता जा रहा है। उसका परिणाम सामने है।

किन्तु समय की आवश्यकता है कि हम अपना विश्वास न खोएँ। हम थकी एवं पीड़ित मानवता की सेवा हेतु प्रेम और समर्पण की पुनीत भावना लेकर एक दूसरे को जोड़ें। लोकमंगल की भावना से हमें आज के त्रस्त एवं अभावग्रस्त

मानवों को सान्त्वना प्रदान करना है तथा उनके कष्टों के निवारण हेतु सही उद्योग करना है ताकि उनमें विश्वास जगे और आपस में सद्‌भाव का उदय हो। लोक-संग्रह के सभी कार्य परमेश्वर की पूजा ही हैं। नर की सेवा ही नारायण की सच्ची आराधना है। धर्म का उद्देश्य हृदय का परिवर्तन करना है ताकि हमारी असत् प्रवृत्तियों का उच्छेद हो और हमारे मन में उदात्त भाव उदित हों। जिसके मन में जितने अधिक पवित्र विचार होते हैं, प्रभु के वह उतना ही अधिक पास है।

हमें अन्याय, स्वार्थ, घृणा और असत् विचारों के विरुद्ध सतत युद्ध करना है। यही धर्म का सही सन्देश है। यही गीता की भावना है। यही समय की आवश्यकता है। जीवन में अन्तिम सत्य की प्राप्ति हेतु हमें उस निश्छल निर्मल प्रेम को नि:स्वार्थ भाव से सबके बीच बाँटना है जो ईश्वर की इस सृष्टि में अजस्त्र रूप से प्रवाहित हो रहा है। यही हमारा धर्म है। यही वह धर्म है जो संकीर्णता और हठधर्मिता से ऊपर उठकर जाति, वर्ण अथवा सम्प्रदाय के किसी भेदभाव के बिना संपूर्ण मानवता को प्रेमपूर्वक अपने हृदय से लगाता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" में यही दिव्य भावना मूर्तिमती मिलती है। इस अमृत वाक्य का उद्‌घोष हमारे ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व इस देश में किया था। ❑

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
– हितोपदेश

यज्ञ : उदात्त परिप्रेक्ष्य में

'यज्ञ' शब्द का कोशगत अर्थ है–पूजा कार्य, कोई पवित्र कार्य अथवा भक्ति सम्बन्धी कार्य।[1] इस प्रकार यज्ञ का सम्बन्ध सदैव पवित्र कार्य से रहा है। अपवित्रता तो इसके पास फटक नहीं सकी। 'यज्ञ' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुषसूक्त में 'यज्ञ' शब्द का प्रभूत प्रयोग मिलता है। वहां भी यज्ञशब्द पूजा अथवा पवित्र कार्य के अर्थ में ही आया है।[2] ऋषि ने उक्तसूक्त में मानसी कल्पना के द्वारा सृष्टियज्ञ का स्वरूप प्रस्तुत किया है, जिसमें सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न होना बतलाया गया है। वहां भौतिकयज्ञ के स्थान पर आध्यात्मिकयज्ञ की प्रतिष्ठा निरूपित हुई है।

यज्ञों का विशेष वर्णन ब्राह्मणग्रंथों में उपलब्ध होता है। जिस रूप में यागों का विधान ब्राह्मण वाङ्मय में उपलब्ध होता है, उसके प्रति विरक्ति परवर्त्ती आरण्यक वाङ्मय में ही परिलक्षित होने लगती है, जहां कर्मकाण्ड से दूर हटकर ज्ञानपक्ष की ओर उन्मुखता के संकेत मिलने लगते हैं। इसका विकसित रूप हमें तत्परवर्त्ती वाङ्मय, उपनिषदों में स्पष्ट रूप से देखने मिलने लगता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में अश्वमेघयज्ञ के स्थान पर उषस् की आराधना का स्पष्ट उल्लेख है। वहां बतलाया गया है कि उषस् की आराधना अश्व के शिर के रूप में की जानी चाहिए, सूर्य की उसकी आँख के रूप में एवं वायु की उसके प्राण के रूप में।[3] इस प्रकार की आराधना ही अश्वमेघ याग का फल प्रदान करेगी।

वेदाङ्गवाङ्मय में भी यज्ञशब्द की इसी प्रकार की व्याख्या के संकेत मिलते हैं। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में यास्क के निरुक्त में यज्ञवाची अध्वरशब्द की व्याख्या इस रूप में मिलती है :

"अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।"[4] महर्षि यास्क ने स्पष्ट रूप से उद्घोष किया है कि यज्ञ वह कार्य है जहां हिंसा का प्रसङ्ग ही न हो। यज्ञशब्द के प्रचलित अर्थ के विपरीत निरुक्तकार के द्वारा 'यज्ञ' शब्द की एक स्वतंत्र मौलिक एवं सात्विक व्याख्या प्रस्तुत किया जाना, निश्चित ही उनकी क्रांतिकारी मान्यताओं का परिचायक है।

यास्क के बाद ईसा पू० 6वीं शताब्दी में इस देश में श्रमण संस्कृति का उत्थान होता है। श्रमण संस्कृति में यज्ञ का पूर्ण रूप से बहिष्कार मिलता है। महावीर और बुद्ध ने तो यज्ञ के आडम्बरपूर्ण स्वरूप की प्रभूत आलोचना की तथा उसे सर्वथा अनुपादेय ठहराया।

यज्ञशब्द के प्रचलित अर्थ से हटकर, वैदिक काल से लेकर बुद्ध और महावीर के युग तक बार बार इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि यज्ञशब्द सम्भवतः अपने मूल अर्थ से हटता प्रतीत हो रहा था, और केवल बाह्याडम्बरपूर्ण अपने रूढ अर्थ में प्रचलित हो रहा था जिसमें आलम्भनपक्ष पर अधिक बल दिया जा रहा था, और इसे ही यज्ञ का सही रूप माना जा रहा था।

यह भ्रांति सम्भवतः इस प्रकार उत्पन्न हुई होगी कि यज् धातु का अर्थ है यज्ञ करना अथवा त्यागपूर्वक पूजा करना। याज्ञिक से यह अपेक्षित था कि वह यज्ञ में सम्यक् रूप से दीक्षित हो और अपने दूषणों का परित्याग कर यज्ञकार्य में प्रवृत्त हो। उससे अपने भीतर के पशुत्व का त्याग करना अपेक्षित था। सम्भव है, इस महनीय अर्थ की व्यञ्जना को उस युग में ग्रहण न किया गया हो और केवल उसके रूढ़िगत पक्ष को ही अपना लिया गया हो। इस प्रकार समाज में अपने भीतर के पशुत्व की बलि के स्थान पर बाहर के पशु की बलि दी जाने लगी।

यह प्रवृत्ति जब देश की आचार पद्धति में गहरी पैठ करती प्रतीत हुई, तो विचारकों को सोचना पड़ा और आरण्यकयुग से लेकर महावीर के युग तक एक निरन्तर वैचारिक संघर्ष चला। वास्तव में यज्ञशब्द में आलम्भन का अवकाश ही नहीं है।

भारतीय संस्कृति में गृहस्थ से प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना अपेक्षित है। ये हैं ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ। ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है ज्ञानार्जन करना और इसे वितरित करना। देवयज्ञ का अर्थ है स्तुतियों आदि से देवताओं को प्रसन्न करना। पितृयज्ञ का अर्थ है पूर्वजों को तर्पण से प्रसन्न करना। भूतयज्ञ का अर्थ है विश्व के प्राणियों के भरणपोषण हेतु अपनी क्षमतानुसार योगदान करना। इसके लिए अपने आवास स्थान से बाहर प्राणियों के लिए अपने भोजन के कुछ अंश को रखने का विधान है। इसी प्रकार अतिथियज्ञ में अपने यहां आये हुए अतिथि का सादर सत्कार करने का आदेश है। ऊपर उल्लिखित किस यज्ञ में हिंसा का विधान

है? प्रत्युत ऊपर निर्दिष्ट यज्ञों में तो मनुष्य की अपनी उदात्तप्रवृत्तियों को विकसित करने का अवसर उपलब्ध होता है। यज्ञ का हिंसापरक अर्थ करना ही यज्ञ के मूल अर्थ की हिंसा करना है।

आज तो यज्ञशब्द व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया जाता है। विद्या केन्द्रों पर वर्ष भर चलने वाले अध्ययन-अध्यापन-कार्य को आज शिक्षणसत्र कहा जाता है। यहां सत्र शब्द यज्ञ का ही पर्याय है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी ने चरखे से सूत कातने को सूत्रयज्ञ कहा था। विनोबा जी ने भूमि का दान करने को भूदानयज्ञ एवं गांव का दान करने को ग्रामदानयज्ञ की संज्ञा दी। लोक में जितने अच्छे कार्य किये जाते हैं, जिनमें चाहे व्यष्टिगत श्रेयस् की भावना निहित हो अथवा समष्टिगत, सभी यज्ञ शब्द के पवित्र अर्थ में समाहित हैं। ❑

1. *संस्कृत हिन्दी कोश-वामन शिवराम आप्टे पृष्ठ 823*
2. *ऋग्वेद 10-90-16 पर सायणभाष्य*
3. *उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणः। बृहदारण्यकोपनिषद् 1-1-1*
4. *निरुक्त पञ्चाध्यायी-सम्पादक म.म. छज्जूराम शास्त्री पृष्ठ 25*

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।
- बृहदारण्यकोपनिषद्

सुख का स्वरूप

'सुख' शब्द मन को बड़ा प्रिय लगता है। इसकी कल्पना मात्र हमारे मन को प्रफुल्लित कर देती है। किन्तु सुख का स्वरूप है बड़ा विवादग्रस्त। आज तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा/व्याख्या प्रस्तुत नहीं हो सकी जो सभी को स्वीकृत हो। लोभी व्यक्ति धनसंचय में सुख देखता है, तो त्यागी धन-सम्पत्ति के त्याग में। क्रूर वधिक प्राणिवध में सुख पाता है, तो दयालु व्यक्ति प्राणियों की रक्षा करने में। कोई हिंसा में सुख मानता है, तो कोई जीवों के प्रति दयाभाव में। किसी को परनिन्दा में सुख मिलता है, तो कोई दूसरा ऐसा भी होता है, जो परनिन्दाकर्म से सदा अपने को दूर रखता है और उसमें सुख का अनुभव करता है। दुष्ट व्यक्ति दूसरे का अहित करने में और उसे कष्ट पहुँचाने में सुख देखता है, तो सज्जन व्यक्ति परोपकार, परहितसाधन और परपीड़ा दूर करने में।

वैष्णव जन तो तैने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे।

कोई अति क्रूरकर्मा दीन-दुःखियों के शवों पर अपने महल की रचना में सुख देखता है, तो कोई दूसरा दीनदुखियों के प्रति होने वाले अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करते हुए अपने प्राणों की बाजी लगा देने में सुख मानता है।

मनुष्य के मस्तिष्क पर जब दानवी प्रवृत्तियाँ अपना अधिकार जमा लेती हैं, तब वह सद्-असद् का विवेक खो बैठता है। फिर न तो वह स्वयं सही सोचता है, और न किसी सही व्यक्ति की सही सलाह उसे सही लगती है। ऐसे लोगों का समाज में जब बाहुल्य हो जाता है, जब चारों ओर अत्याचार, अनाचार, परपीड़ा और परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। सम्पदासंग्रह की दुष्प्रवृत्ति हम पर हावी होने लगती हैं। धन बटोरने की प्रवृत्ति में हम सभी प्रकार के अनुचित कार्य करने लगते हैं। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं। हिंसा के मार्ग पर चलते हैं। निर्दय और क्रूर बनते हैं। हमारा नैतिक ह्रास होने लगता है। हम अनैतिकता के भँवर में फँसते हैं और इस प्रकार घोर पतनगर्त में गिरते हैं।

हमारा मानवीय पक्ष बिल्कुल समाप्त हो जाता है। सुखप्राप्ति की कल्पना में हम इस बात को भूल जाते हैं कि हमारी सुखप्राप्ति से किसी दूसरे को कष्ट भी हो सकता है। कितने मिलमालिक अथवा कारखाने के स्वामी इस बात का ध्यान रखते

हैं कि उनकी उत्पादनकार्ययोजना / व्यवस्था से उनके कर्मचारियों को कोई कष्ट न पहुँचे?

सही सुख तो वह है, जिसमें हमें स्वयं को आनन्द/प्रसन्नता मिले और अन्यों को भी मिले। हमारे सुख से किसी दूसरे को कोई असुविधा/कष्ट न हो। इसके लिए कभी-कभी हमें अपने निजी सुख का त्याग भी करना पड़ता है। जहाँ त्याग है, वहीं प्रेम है। जहाँ प्रेम हैं, वही अनन्त सुख है और वहीं प्रभु का वास है। अपने आसपास के लोगों के प्रति संवेदनशील होना ही हमारे भीतर की शुभप्रवृत्ति के उदय का लक्षण है। केवल अपना-अपना सोचना और उसी में सुखी मानना तो पशुप्रवृत्ति है। यह घोरस्वार्थपूर्ण कार्य है जो हमें सतत नीचे की ओर ले जाता है। स्वार्थवृत्ति के फलस्वरूप हम उस बड़ी शक्ति को भी भूल जाते हैं, सारा जगत् जिसकी अभिव्यक्ति है। ऐसे ही निकृष्ट सुख की निन्दा करते हुए कबीर कहते हैं :-

सुख के माथे सिल परे जो नाम हृदय से जाय।

ऐसा सुख भी कोई सुख है जिसमें हमें अपने आराध्य देव का नाम स्मरण करने तक का समय न मिले? हम उन्हें ही भुला बैठें। गोस्वामी जी ऐसे जीवन को निन्दास्पद मानते हैं। वे तो इसे सुख नहीं, वरन् विपत्पात मानते हैं। क्योंकि फिर हम अपने प्रभु से दूर होने लगते हैं। उन्हें भूलने लगते हैं। रामचरितमानस में हनुमान जी ने प्रभु राघवेन्द्र के समक्ष इसी आशय के विचार रखे हैं :-

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥

वह जीवन भी क्या है जिसमें भगवान के स्मरण का समय भी न मिले! भगवन् वह तो विपत्ति है विपत्ति। किन्तु भगवान् श्रीराम हनुमान से कहते हैं कि उस प्राणी पर तो स्वप्न में भी कभी कोई विपत्ति नहीं आ सकती जो मन, वचन और कर्म से सर्वविध भगवान् का हो चुका है।

बचन काय मन मम गति जाही।
सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही॥

सुख और दुःख के बीच चयन / वरण करने की स्थिति में कबीर तो दुःख को ही चुनते हैं क्योंकि सुख में तो प्राणी भगवान् को भूल जाता है, किन्तु दुःख

पड़ने पर उसे प्रभु बार-बार याद आते हैं। प्रभु का नाम हृदय से स्मरण करने का उत्तम अवसर दुःख के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है।

बलिहारी वा दुःख की जो पल-पल नाम रटाय।

अशोक वाटिका में दुष्ट राक्षसियों के बीच घिरी सीता ने स्वाराध्य श्री राम का नाम जपते-जपते अपना विपत्तिकाल निकाल दिया था। अपनी विमाता से तिरस्कृत होकर बालक ध्रुव ने अरण्य में जाकर नारायण के नाम का ही निरन्तर स्मरण किया और प्रभु के दर्शन प्राप्त किये। असुरराज हिरण्यकशिपु के द्वारा असंख्य कष्ट दिये जाने पर भी कुमार प्रह्लाद ने भगवान् विष्णु के नाम को कभी भी विस्मृत नहीं होने दिया और अग्निपरीक्षा में खरे उतरे। मीरा को राणा जी द्वारा क्या-क्या कष्ट नहीं दिये गये? किन्तु उन्होंने गिरिधर गोपाल के नाम का सहारा लेकर विपत्ति-सागर सहज पार कर लिया। प्रभु-नाम का प्रभाव ही कुछ ऐसा है। दुःख में भी सुख।

यही वास्तविक सुख है। सच्चा सुख-दिव्यसुख-वही है, जब जीवन में हमें इतना समय तो मिले कि भगवान् के नाम का कम से कम दो पल हम स्मरण कर सकें और लौकिक आनन्द के क्षणों में कम से कम इतना ध्यान अवश्य रखें कि मेरे सुखलाभ से किसी दूसरे को कोई कष्ट न हो। कोई व्यथित न हो। ❑

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य परिनाम॥

- दोहावली

भाग्यवाद बनाम कर्म

संस्कृत में एक उक्ति है, "भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्" - इस उक्ति का अर्थ यह है कि, भाग्य ही सब जगह फल देता है, विद्या अथवा पुरुषार्थ नहीं। किन्तु इस प्रकार का अर्थ केवल भाग्य के भरोसे रहने वाले और कर्म को नकारने वाले ही करते हैं। भाग्य पर विश्वास मानने का अर्थ कर्म को नकारना नहीं है, अन्यथा तब तो सारा संसार ही निष्क्रिय अकर्मण्य और आलसी बन जायेगा।

आखिर, भाग्य है क्या? भाग्य है हमारे समक्ष उपस्थित परिस्थितियों का वह समवाय जिसके ऊपर हमारा कोई वश नहीं होता। जब ये परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल होती हैं, तब हम कहते हैं कि भाग्य हमारे अनुकूल है और जब परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल होती हैं, तब हम कहते हैं कि भाग्य हमारे प्रतिकूल है। इस प्रकार परिस्थितियों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने से हमारा भाग्य भी हमारे अनुकूल अथवा प्रतिकूल बन जाता है।

कभी-कभी राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तनों के फलस्वरूप परिस्थितियों में परिवर्तन आते हैं। ये परिवर्तन कुछ लोगों के अनुकूल बैठते हैं और कुछ के विपरीत चले जाते हैं। कुछ के भाग्य खुल जाते हैं, और कुछ अपने भाग्य को कोसने लगते हैं, फिर चाहे वे नेता हों या अफसर, कवि हों या कलाकार, व्यवसायी हों या कामकार।

यदि एक क्षण के लिए भाग्य को केवल पूर्वजन्म में किये कार्य का ही फल मान लिया जाये, तो भी कर्म ही हमारे भाग्य का निर्माण करता है। इस मान्यता के अनुसार भी भाग्यवाद कर्म को नकारता नहीं प्रत्युत कर्म करने की प्रेरणा देता है, जिससे अपना भाग्य हम स्वयं निर्माण कर सकते हैं।

किन्तु क्या यह आवश्यक है कि हम कर्म करें अभी, और हमें उसकी भाग्य के रूप में फल-प्राप्ति हो अगले जन्म में? सच तो यह है कि हम जो कार्य कर रहे हैं, उससे हम अभी ही अपना भाग्य निर्माण कर रहे हैं। चाहे हम एक छात्र के रूप में हों, अथवा कृषक के रूप में, अथवा अन्य किसी भूमिका में। हमारे कार्य का फल हमें अभी मिलने वाला है।

किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिए गीता में पाँच घटक तत्त्वों को

उपादेय ठहराया गया है :-

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ (18-14)

अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए अधिष्ठान (आधार), कर्ता, इन्द्रियादिरूप करण, नानाविधचेष्टाएँ तथा दैव को हेतु माना गया है।

इनमें से महत्वक्रम से दैव अर्थात् भाग्य को सबसे अन्तिम स्थान मिला है। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति में भाग्य प्रमुख कारक तत्त्व नहीं बनता, बल्कि उसका स्थान तो सबसे पीछे आता है। उसकी तुलना में कर्मकर्त्ता का स्थान बहुत पहिले होता है। अन्य साधक उपकरणों, चेष्टाकर्म का स्थान भी पहिले ही आता हैं। किन्तु भाग्य का स्थान सबसे बाद में होता हैं। इसका तात्पर्य यही है कि, मनुष्य की कार्यसिद्धि में कर्म का स्थान पहिले होता है, दैव अथवा भाग्य का स्थान तो बहुत बाद में आता है।

महाकवि माघ ने भाग्य को अकारण महत्व प्रदान करने पर अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि किसी भी विवेकवान् को अपने पुरुषार्थ का परित्याग नहीं करना चाहिए। हमारा पुरुषार्थ ही हमारे भाग्य का निर्माण करता है। कहा भी गया है कि "मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है।" इसका अर्थ यही है कि हम जो कार्य कर रहे हैं, उसका हमारे अगले जन्म से कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, इसके विषय में अलग-अलग मत हो सकते हैं। किन्तु हमारे कर्म का हमारे इसी जीवन से तो सीधा सम्बन्ध है, इसमें दो राय नहीं।

व्यष्टि रूप से हमारे पुरुषार्थ का फल रूप जो हमारा भाग्य है, समष्टिरूप से वही हमारे देश के पुरुषार्थ के फलरूप हमारे देश का भाग्य है। अपने पुरुषार्थ से ही हम अपने भाग्य को बना रहे हैं, और पुरुषार्थ अथवा कर्म न करने पर अपना भाग्य बिगाड़ भी रहे हैं।

जिस प्रकार जीवन में अनेक झटके खाकर भी पुरुषार्थी व्यक्ति फिर उठ खड़ा होता है, और अपने अभ्युदय से लोगों को विस्मित कर देता है, उसी प्रकार घातक बमों के प्रहार से ध्वस्त हुआ पुरुषार्थी देश अपने देशवासियों के पुरुषार्थ के बल पर पुन: उठ खड़ा होता है और विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच अपना स्थान बना लेता है। इससे तो यही सही प्रतीत होता है कि भाग्यवाद, कर्म न करने की नहीं बल्कि सतत कर्म करने की सीख देता है। ❑

हमारे सांस्कृतिक मूल्य

सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर हमारा देश विश्व में सदा अग्रणी रहा है। भारत में नैतिक मूल्यों की सदा संरक्षा हुई है। यहाँ दया, प्रेम, परोपकार, कर्त्तव्यपालन के एक नहीं, दो नहीं, अपितु असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं। यहाँ भगवान् शिव ने स्वयं गरलपान कर लिया, किन्तु संसार को आँच नहीं आने दी और प्राणिमात्र को विनाश से बचा लिया। राजा शिबि ने अपने शरीर का माँस स्वयं श्येन को अर्पित कर दिया किन्तु एक कपोत के प्राणों की रक्षा की। इसी प्रकार महर्षि दधीचि ने अपने शरीर की अस्थियों को हँसते-हँसते देवताओं को दान कर दिया ताकि दानवीशक्ति का उच्छेद हो सके।

राम की आज्ञाकारिता और कर्त्तव्यपालन का उदाहरण हमारे सामने है। अपने पिता महाराज दशरथ के आदेश को शिरोधार्य कर बिना कुछ अन्यथा विचार किये राजीवलोचन रामचन्द्र अयोध्या के सिंहासन को छोड़कर चौदह वर्ष के लिए वन की ओर चल पड़े। न तो राज्याभिषेक के समाचार को सुनकर वे असामान्य रूप से प्रसन्न हुए और न वन जाने के अप्रत्याशित आदेश से उनके मुख पर विषाद की कोई रेखा दिखाई दी। जंगल में सीताहरणरूपी घोर विपत्ति का बिना विचलित हुए उन्होंने सामना किया। सुदूर दक्षिण में लंका पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद भी वहाँ का कांचन-वैभव राम को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका। उन्हें तो याद आ रही थी अपनी जन्मभूमि की।

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

कृष्ण के निःस्पृह नेतृत्व का उदाहरण हमारे सामने है। वासुदेव कृष्ण ने अल्प अवस्था में ही जिस अपूर्व संगठन शक्ति और समाज के नेतृत्व की क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत किया वह अपने आप में महत्वपूर्ण है। गोप-समाज में कृष्ण के निःस्पृहव्यक्तित्व की छवि विद्यमान थी। कृष्ण के नेतृत्व के प्रति उनमें असीम विश्वास था। इसी विश्वास की पूँजी लेकर बालकृष्ण ने एक दिन इन्द्र को ललकारा, ब्रज प्रदेश के लोगों ने इन्द्र की पूजा करना अस्वीकारा और इस प्रकार उन्हें कर देना नकारा। फलस्वरूप वे इन्द्र के कोपभाजन बने। इन्द्र देव ने ब्रज प्रदेश में घनघोर वृष्टि की, किंतु सूझबूझ के धनी कृष्ण ने इन्द्र की इस चुनौती का साहस से सामना किया और ब्रजवासियों को इस घोर विपत्ति से मुक्ति दिलाई। कृष्ण ने यह सब इसलिए नहीं किया कि ब्रज में उन्हें कोई कुर्सी चाहिए थी।

भारत ऋषि-मुनियों का देश है। इन ऋषि-मुनियों का जीवन सारे देश के

लिए सदैव आदर्श रहा है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, सान्दीपनि का जीवन इस देश के लिए सदा प्रेरणा का स्रोत रहा है। जिस देश में राम और कृष्ण जैसे व्यक्तित्व अपनी निःस्पृहता, आज्ञाकारिता, जन्मभूमि-प्रेम, अनुशासनप्रियता, साहस और समाज-नेतृत्व का उदाहरण प्रस्ततु क़रें, कोई आश्चर्य नहीं कि देवता भी उस देश की प्रशंसा करें और अपनी भोगभूमि को छोड़कर इस कर्मभूमि में आने के लिए लालायित रहें।

वैदिक काल से लेकर विदेशियों के आक्रमण के पूर्व तक हमारी सांस्कृतिक धरोहर सदा अक्षुण्ण रही है। किन्तु विदेशियों के आगमन के पश्चात् नैतिकता की हमारी मूल विरासत में ह्रास होना प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे उसमें विकृति आने लगी। हमारे सांस्कृतिक मूल्य छिन्न-भिन्न होने लगे। विदेशी शासकों की मान्यता रही है कि यदि इस देश को दीर्घ काल तक पराधीन बनाये रखना है, तो यहाँ की मूल संस्कृति को विनष्ट कर दो। आज हमारे नैतिक और सामाजिक मूल्य बिखर रहे हैं।

आज तो रोग इतना बढ़ चुका है, कि जहाँ दृष्टि जाती है वहीं, जीवन के हर क्षेत्र में, हमारे नैतिक मूल्य नष्ट होते दिखाई पड़ रहे हैं। रोग बढ़ता ही जा रहा है। अतः सही दिशा में यत्न किया जाना आज परम आवश्यक है। नैतिक मूल्यों की संस्थापना के अभाव में स्वार्थ, अविश्वास और भय का वातावरण व्याप्त हो गया है। समाज के आचरण में यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जिस देश में तक्षशिला और नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र थे, अनुशासन के मन्दिर थे, वहीं शिक्षा-संस्थाएँ आज चिन्ता का केन्द्र बनती जा रही हैं। विद्या और विद्याकेन्द्रों का उपहास हो रहा है। सीता, सावित्री और मैत्रेयी के इस देश में "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" की भावना का लोप होता जा रहा है। आज हमें अच्छा देखना, अच्छा नहीं लगता।

इसका परिणाम यह हो रहा है, कि हमारे आसपांस असंतोष, अविश्वास और असुरक्षा की भावना तीव्रता से बढ़ रही है। समाज क़मजोर हो रहा है। नैतिक मूल्यों में गिरावट के कारण समाज आज दिग्भ्रान्त दिखाई देता है। महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, रामकृष्ण, विवेकानन्द जैसे तपस्वियों के इस देश में नैतिक मूल्यों का ह्रास चिन्ता का विषय है। समय आ गया है कि हम जागें, अन्यथा हमारी अकर्मण्यता हमारे लिए आत्मघाती हो सकती है। □

तृष्णा

जीवन में किसी भी वस्तु को अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने की इच्छा का नाम तृष्णा है। यह प्रवृत्ति किसी भी व्यक्ति के जीवन में बड़ी घातक परिणाम वाली होती है। इसीलिए हमारे मनीषियों और दार्शनिकों ने इसकी सदा निन्दा की है। तृष्णां के शिकार व्यक्ति में इसका कभी अन्त नहीं। इसके घटने का नाम नहीं। यह तो वैसे ही उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, जैसे आग में घी डालने से आग की ज्वाला और-और बढ़ती है।

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।"

एक तृष्णा के हमारे मन में घर कर लेने पर हमारी उदात्त वृत्तियों का ह्रास होने लगता है। हमसे क्षमा, दया, दाक्षिण्य आदि उत्तम गुण दूर भागने लगते हैं और हममें असन्तोष, क्रूरता और पारस्परिक विद्वेष का प्रादुर्भाव होने लगता है। तृष्णा के वशीभूत हो हम यह भूलने लगते हैं कि हम किसी वस्तु को प्राप्त करने में नैतिक मूल्यों का सहारा ले रहे हैं अथवा नहीं। हमें तो केवल यह दिखता है कि हमारे पास जो कुछ है, वह खूब बढ़े और बढ़ता ही जावे, भले ही हमारे इस प्रकार के आचरण से किसी को भी कोई कष्ट अथवा यातना क्यों न सहना पड़े?

कितने ही ऐसे छोटे-बड़े प्रतिष्ठानों के स्वामी कारखानों अथवा मिलों के मालिक हैं, जो केवल अपने लाभ के लिए छोटे-छोटे लोगों को यातना पहुँचाते हुए उनसे अधिकाधिक काम लेने में नहीं सकुचाते। मानवीय पक्ष प्राय: वहाँ शून्य हो जाता है। फिर उन्हें मनुष्य, मनुष्य नहीं दिखता। अच्छे और बुरे के बीच वे भेद नहीं कर पाते। उन्हें तो अपने चारों और निन्यानवे का चक्र दिखता है। तृष्णा की कोई सीमा नहीं है। ऐसी स्थिति में अधर्म, अन्याय अथवा अनाचार उन्हें अप्रिय नहीं लगते। अधिकाधिक धनसंग्रह करने की होड़ में वे पागल हो जाते हैं और फिर शायद ही अपने को वे उस घेरे से बाहर निकाल पाते हों। ऐसे लोगों के मन में शान्ति कहाँ?

जीवन में पैसे की होड़ में कौन सबसे आगे निकल पाया है? एक दूसरे से किसी भी प्रकार से आगे बढ़ने की आत्मघाती होड़ में लोग केवल अस्त-व्यस्त देखे जाते हैं और सारी दौड़-दौड़ने के बाद उन्हें असन्तोष ही हाथ लगता है।

जिस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन में तृष्णा के घातक परिणाम देखने को मिलते हैं और मनुष्य, मनुष्य न होकर कुछ और ही बन जाता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र के जीवन में भी तृष्णा के ऐसे ही बुरे परिणाम देखने को मिलते हैं।

आज यह सभी के अनुभव का विषय है कि केवल समृद्ध बनने और अपनी शक्ति का विस्तार करने की होड़ में ये राष्ट्र हेय नीतियों का आश्रय लेते हैं। अपने से अपेक्षाकृत छोटे राष्ट्रों के प्रति उनकी दृष्टि प्रायः उपेक्षापूर्ण होती है। परस्पर सम्मान की भावना में उनका विश्वास नहीं होता। सम्पन्न राष्ट्र में यदि सहिष्णुता और सदाशयता का विकास नहीं हुआ, तो उस राष्ट्र की सम्पन्नता का कोई अर्थ नहीं। कभी-कभी तो छोटी-छोटी घटनाओं को ये शक्तिवादी राष्ट्र अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं और संघर्ष की स्थिति उपस्थित कर देते हैं। उनके शस्त्रों के जखीरे अन्य देशों की शान्ति में बाधा पहुँचाने लगते हैं।

प्रायः देखा गया है, कि जिन देशों में अस्त्र-शस्त्रों को अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की तृष्णा होती है, उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। फिर तो वे अपने मित्र को भी शत्रु समझने लगते हैं। सही-गलत का अथवा शत्रु-मित्र को पहिचानने का उनमें विवेक समाप्त हो जाता है। अपने पड़ोसी देश से भी वे शस्त्र की भाषा में बात करते है।

इस प्रकार तृष्णाा से ग्रस्त एक राष्ट्र भी मानवीय मूल्यों से नीचे गिरते देखा जाता है। उसमें उदात्त वृत्तियों का अभाव हो जाता है। उसकी क्रूरता और पारस्परिक विद्वेष उभरकर सामने आ जाते हैं।

तृष्णा एक व्यक्ति को नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की दृष्टि से तो विनष्ट करती ही है, एक राष्ट्र को भी समाप्त कर देती है। भले ही वह राष्ट्र भौतिक दृष्टि से सम्पन्न क्यों न दिखाई दे।

विवेकहारिणी तृष्णा, सा पतनस्य कारणम्।
उच्यते स महाप्रज्ञः येन तृष्णा दृढं जिता॥

❑

अनासक्त योग

ऐसा कहते हैं कि एक समय विदेहराज महाराज जनक के यहां संन्यासी वेश में एक व्यक्ति पहुँचा और उनसे निवेदन करने लगा कि वह उनके पास अनासक्त योग सीखने आया है। संसार के दु:खों से वह छुटकारा पाना चाहता है। मोहजाल से वह सर्वथा मुक्त होना चाहता है। अत: कृपा करके वे उसे अनासक्त योग का उपदेश दें।

विदेहराज जनक ने उस व्यक्ति की जिज्ञासा को समझकर उसे अपने समीप बैठाया और अनासक्त योग का उसे उपदेश देने लगे। इसी बीच में एक अनुचर उनके पास यह सूचना देने उपस्थित हुआ कि नगर के अमुक भाग में भीषण आग लग गई है। महाराज जनक ने तत्काल सम्बन्धित अधिकारियों-और कर्मचारियों को इसके सम्बन्ध में सूचित करने का आदेश दे दिया ताकि वे तुरन्त अग्नि बुझाने के लिए समुचित उपाय करें, जिससे उस क्षेत्र की पीड़ित प्रजा को सुरक्षा मिले।

आदेश देने के बाद महाराज जनक पुन: उस व्यक्ति को अनासक्त योग का उपदेश देने में संलग्न हो गये। किन्तु कुछ समय के पश्चात् महाराज जनक देखते हैं कि संन्यासी वेशधारी उस व्यक्ति की मन:स्थिति बिगड़ रही है। उसका ध्यान अब उनके प्रवचन से हटकर कहीं और चला गया है। महाराज जनक ने जब उस व्यक्ति से इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि जबसे उसने नगर के एक हिस्से में आग लगने की बात सुनी है, तभी से उसका ध्यान वहीं लगा हुआ है। वह उसकी चिन्ता का विषय बन गया है क्योंकि नगर के जिस हिस्से में आग लगी है, वहीं उसकी कुटिया है, और उस कुटिया में उसका कमण्डलुपात्र और लँगोटी रखे हुए हैं, जो सम्भवत: आग में नष्ट हो गये होंगे।

इसे सुनकर विदेहराज जनक को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वे अवाक् रह गये। वे असमंजस में पड़ गये और निश्चय नहीं कर सके कि वह व्यक्ति सचमुच में अनासक्त योग सीखने आया है अथवा नहीं? अन्त में उन्होंने जान लिया कि जिस व्यक्ति को वे अनासक्त योग का उपदेश दे रहे थे, वह अभी कच्चा है। उसमें इस उपदेश को ग्रहण करने की क्षमता ही नहीं है। उसके मन की चंचलता अभी गई नहीं है। अनासक्त योग के लिए मन का स्थिर होना परम आवश्यक है। जिसका मन

अपने वश में नहीं है, वह अनासक्त योग का अधिकारी तो है ही नहीं, जीवन में भी वह कुछ उपलब्ध नहीं कर सकता। सामान्य स्थिति में भी हमारा मन यदि चंचल है, तो हम अपने जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। किसी भी अच्छे कार्य को करने का यदि हम निश्चय करते हैं, तो उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने निश्चय पर दृढ़ रहें। हम अपने मन की चंचलता का शिकार न बनें। जीवन के हर क्षेत्र में इसकी आवश्यकता है।

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व हमारी मनःस्थिति तदनुकूल बनती है और तब हम वह कार्य अपने हाथ में लेते हैं। अपने निश्चय के अनुसार आचरण करते हैं, और तब हमें सफलता मिलती है। जब एक भौतिक उपलब्धि के लिए मनःस्थिरता की इतनी आवश्यकता है, तो फिर अलौकिक उपलब्धि के लिए उसकी महत्ता स्वयं समझी जा सकती है।

मन की स्थिरता जीवन में अनासक्ति की उपलब्धि के लिए अपरिहार्य है। अपने जीवन के प्रति यदि हम एक तटस्थ दृष्टिकोण अपना सकें तथा सुख अथवा दुःख में एक समान भाव रखने का अभ्यास कर सकें तो यह अनासक्ति नहीं तो क्या हैं?

अनासक्ति-अभ्यास के लिए विशेष प्रकार के वस्त्रों को धारण करने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य वस्त्रों में भी हमारा मन अनासक्त रह सकता है। और संन्यासी का वेशधारण करके भी हमारा मन उन सब वस्तुओं में लगा रह सकता है, जिन्हें छोड़कर हमने संन्यास-वेष धारण किया है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने यही कहा है। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने भी यही कहा है। सारे प्रतिकूल वातावरण में यदि हम अपने मन को सम्हालकर रख सकें, तो यही सही अनासक्ति है। अन्यथा जंगल में रहकर और सब कुछ त्यागने के बाद भी हमारा मन यदि उन्हीं त्यागी हुई वस्तुओं की ओर फिर-फिर जा लगे, तो यह विडम्बना नहीं तो क्या है? ❑

पारसमणि

हमारे देश में पारसमणि की चर्चा बड़ी पुरानी है। जनसामान्य में इसकी चर्चा तो खूब मिलती है, किन्तु इस मणि के किसी के द्वारा देखे जाने के विषय में कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसकी विशेषता यह अवश्य बतलाई गयी है, कि यदि लोहे का इससे स्पर्श हो जाता है, तो वह स्वर्ण बन जाता है। पारसमणि के अस्तित्व एवं इसके गुण-विशेष में सत्यता कितनी है, यह तो कौन कह सकता है? किन्तु जनमानस में पारसमणि के विषय में जो सुखद धारणा बनी हुई है, वह अत्यन्त गहरी है।

वैसे पारसमणि और लोहा ये दोनों प्रतीक भी माने जा सकते है। पारसमणि महात्मा का / संत का / सत्पुरुष का प्रतीक है और लोहा सामान्य व्यक्ति का। पारसमणि में लोहे को सोना बनानें की क्षमता प्रसिद्ध है और महापुरुष में एक क्षुद्र व्यक्ति को भी महान् बनाने की सामर्थ्य रहती है। अपने सम्पर्क में आंने पर वे किसी भी व्यक्ति के दोषों, दुर्गुणों अथवा कमियों को दूर करके उसके जीवन में उत्कृष्टता ला देते हैं और इस प्रकार एक तुच्छ व्यक्ति भी सत्पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसकी कृपा से बड़ा बन जाता है।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ देखने को मिलता है, कि सत्पुरुष के सम्पर्क में आने पर पतित मनुष्य का कल्याण हो गया। यह ऋषियों के सम्पर्क का ही प्रभाव था कि रत्नाकर एक दस्यु से महाकवि वाल्मीकि बन गये। महात्मा बुद्ध के सम्पर्क में आने पर अंगुलिमाल का कल्याण हुआ। उसके दुष्ट स्वभाव का अन्त हुआ और वह आदमी बन गया। महावीर के सम्पर्क में आने पर एक भंयकर विषधर ने अपना विषधरत्व छोड़ दिया था। भगवान् रामकृष्ण देव का आशीर्वाद प्राप्त कर कितनों का कल्याण नहीं हुआ और स्वामी विवेकानन्द ने कितनों को गलत मार्ग से सही मार्ग पर नहीं लगाया? उन्हें मनुष्य बनाया। उनकी प्रेरणा से कितने ही अश्रद्धावान् श्रद्धालु बन गये और उन्होंने अपने जीवन को सार्थक बनाया। कितने ही अकर्मण्यों को उन्होंने कर्मठ बनाया। कितने भटकों को उन्होंने सन्मार्ग से नहीं लगा दिया?

इस प्रकार का उत्तम संस्कार भगवान बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द जैसी महाविभूतियों के सम्पर्क में आने पर ही संभव होता है और

जब ऐसा होता है, तब हम कहते हैं कि लोहा सोना बन गया।

देश में जब-जब नैतिक ह्रास होता है, तब-तब उसे ऐसी ही पारसमणि की आवश्यकता होती है जो लोहे को सोना बनाये अर्थात् नैतिक दृष्टि से भ्रान्त लोगों को सही दिशा बता सके। पारसमणि की विशेषता यह है, कि अपने सम्पर्क में आने पर वह लोहे को नष्ट नहीं करता बल्कि उसमें संस्कार ला देता है। उसे स्वर्ण बना देता है। पारसमणि के इस आचरण में महत्वपूर्ण तथ्य यह छिपा है कि किसी भी गिरे व्यक्ति को समाप्त करना उचित नहीं, बल्कि उसका नैतिक/चारित्रिक उत्थान करके उसमें सुधार/संस्कार लाना ही हमारा कर्तव्य है। आज देश को ऐसे ही पारसमणियों की आवश्यकता है। देश का मस्तक ऐसे ही मणियों की अम्लान आभा से निरन्तर सुशोभित होता है। ❑

भवन्ति भारते देशे पुण्यशीलाः कृपालवः।
ये दयाद्रविताः क्षिप्रं सुखं मङ्गलकारिणः॥

– पारिजातम्.(संस्कृत मासिक पत्र)

महात्मा सच्चे

एक जंगल में एक महात्मा रहा करते थे। जंगल में रहते हुए वे सदा त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे। संसार की किसी भी वस्तु के प्रति उनके मन में कोई आकांक्षा नहीं थी। उनका सारा समय हरिनाम-स्मरण तथा दूसरों के कल्याणकार्य में व्यतीत होता था।

महात्माजी प्रतिदिन दिन में तीन बार-प्रातः काल, मध्याह्न तथा सन्ध्या समय-गंगा में स्नान करने जाते थे। मार्ग में एक गणिका का निवास-स्थानं पड़ता था। जब भी महात्मा जी वहां से निकलते, गणिका अपने घर से बाहर निकलती और महात्माजी को प्रणाम करती। महात्मा जी उसे आशीर्वाद देते। उसके बाद गणिका उनसे एक ही प्रश्न किया करती थी, "महात्मा जी सच्चे कि झूठे?" महात्माजी प्रतिदिन गणिका के इस प्रश्न को सुनते और बिना कुछ कहे आगे बढ़ जाते। यह क्रम बराबर चलता रहा।

कुछ समय बीते, महात्मा जी बीमार पड़े। उनका स्वास्थ निरन्तर गिरता गया। वे मरणासन्न हो गये। तब उन्होंने भक्तों से गणिका को बुलाने के लिए कहा। गणिका आयी। उसने देखा कि महात्माजी अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। वह स्तब्ध-अवाक् रह गयी। उसने महात्माजी को प्रणाम किया। इस बार गणिका ने कोई प्रश्न नहीं किया। किन्तु महात्माजी ने आज गणिका के दीर्घकालीन अनुत्तरित प्रश्न का उत्तर स्वयं दिया और कहा "महात्माजी सच्चे"। इस उत्तर को सुनकर गणिका की आँखें खुलीं और महात्माजी ने अपनी आँखे सदा के लिए मूंद लीं।

महात्माजी और गणिका के इस वृत्त में सचाई जो भी हो, किन्तु एक महत्वपूर्ण तथ्य निश्चितरूप से यहां उद्घाटित होता है। अपने चरित्र को यावज्जीवन निर्मल बनाये रखना, वास्तव में एक महान् और कठिन कार्य है।

कोई भी मनुष्य कितने ही प्रतिष्ठित, उच्च अथवा महत्वपूर्ण पद पर क्यों न हो, उसका उस पद पर विद्यमान होना मात्र, उसके चरित्र के विषय में कोई संकेत नहीं देता। उसका चरित्र निर्मल भी हो सकता है और अन्यथा भी हो सकता है। किसी भी व्यक्ति के चरित्र के विषय में बाहर से कोई भी निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती।

हमारा सारा जीवन चुनौतियों से भरा हुआ है। इन चुनौतियों के बीच चरित्र-रक्षा एक बहुत बड़ा और कठिन कार्य है। पग-पग पर हमारे सामने विभिन्न प्रकार के आकर्षण और प्रलोभन हैं, जिनके बीच हमारे चरित्र की परीक्षा हो रही है। हमें अपने चरित्र से डिगाने की परिस्थितियाँ हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। इनसे अपने को बचाते हुए आगे बढ़ते जाना ही हमारे विवेक को चुनौती है। ऐसे उदाहरण हमारे सामने अनेक हैं, जहां हमने बड़े-बड़े महर्षियों को नीचे गिरते और डूबते देखा। सारे जीवन की उनकी उपलब्धियाों को धूल में मिलते देखा है। अपने सारे जीवन को बिना किसी प्रकार की आँच आये निष्कलंक बचा ले जाना वास्तव में एक दुष्कर कार्य है। इस कार्य में हमारी सतत परीक्षा होती रहती है। कभी भी हम इधर-उधर गये कि सारे जीवन के सब किये-कराये पर पानी फिर गया। इसीलिए इसके सम्बन्ध में हमें सतत सचेष्ट रहना पड़ता है। अपने चरित्र की परीक्षा में हम जीवन के प्रत्येक क्षण में सतत जागरूक रहकर ही उत्तीर्ण हो सक्ते है। इसीलिए महात्माजी ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण में ही गणिका के उस प्रश्न का उत्तर देना उचित समझा। भले ही इस प्रश्नं का उत्तर देना उनके लिए कभी भी कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु अपने उत्तर को जीवन के अन्तिम क्षण तक टालने के पीछे महात्माजी का उद्देश्य सम्भवत: यही बतलाना था, कि संसार यह समझ ले कि अपने चरित्र की जीवन भर, मर्यादा में रहते हुए रक्षा करना सामान्य काम नहीं है।

संसार के विभिन्न आकर्षणों एवं चुनौतियों के बीच अपने चंचल मन को वश में रखते हुए अपने चरित्र की जो रक्षा कर सके वही सच्चा महात्मा है, फिर चाहे वह वन में रहे या महल में। ❑

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं वित्तमायाति याति च।
वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
– महाभारत

भयउ न भुवन भरत सम भाई

श्रीरामचरितमानस के सभी पात्र अपने व्यक्तित्व की विशेषता से मण्डित हैं। गोस्वामीजी की लेखनी द्वारा मानस के प्रत्येक पात्र का चरिताङ्कन इतने सुन्दर ढंग से हुआ है, कि उससे पात्र अपने आदर्श की प्रतिमूर्ति के रूप में उपस्थित हो जाता है। हनुमान, लक्ष्मण और भरत मानस के भक्तपात्रों में प्रधान हैं। तीनों ही दास्यभाव की भक्ति में निमग्न हैं, परन्तु तीनों के चरितों में से भरत के चरित का प्रस्फुटन अत्यन्त विशिष्टता से हुआ है।

भरत में हम उच्चकोटि का समर्पणभाव, प्रगाढ़ भक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, निश्छल प्रेम एवं आज्ञाकारिता जैसे उदात्त गुणों का सुन्दर समन्वय पाते हैं। वे उत्तम गुणों का मूर्तिमान् रूप हैं। उनके एक अद्वितीय हृदय है। वे वीर हैं, विनीत हैं। परन्तु ये समस्त गुण भरत के द्वारा राम की पादुकाओंकी अर्चना में समर्पित कर दिये जाते हैं। इस अद्वितीय उत्सर्ग से भरत का उत्कृष्ट चरित्र अत्यधिक निखर उठता है।

राम के राज्याभिषेक के मंगल साज सज रहे हैं। अयोध्या नगरी में पुरवासियों को भरत की अनुपस्थिति खल रही है। इसी समय विधि ने कुछ ऐसा पाँसा पलटा कि अयोध्या का सारा उल्लास क्षण भर में वियोग सागर में परिणत हो गया। राम-वन-गमन की घटना घटी और महाराज दशरथ परलोक सिधारे। भरत अनाथ अयोध्या से पूछते हैं :-

कहु कहँ तात कहाँ सब माता।

कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥

कैकेयी उन्हें समझाने का प्रयत्न करती हैं कि उन्होंने भरत के लिए एक निष्कंटक राज्य का प्रबन्ध कर रखा है। इन शब्दों को सुनकर भरत मर्माहत होते हैं। अपनी माता को वे अत्यन्त क्षोभपूर्ण शब्दों में धिक्कारते हुए कहते हैं :-

जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ।

भरत का हृदय इस आत्मग्लानि से भर जाता है कि लोग उन्हें कैकेयी का पुत्र कहेंगे। इसीलिए निर्दोष भरत समस्त दोषों का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं।

मैं केवल सब अनरथ हेतू।

अपनी इस निर्मल उक्ति से भरत अयोध्या की प्रजा का हृदय जीत लेते हैं और उनके विश्वास, श्रद्धा एवं प्रेम के भाजन बन जाते हैं।

राज्य-भोग का तो उनके समक्ष प्रश्न है ही नहीं। उल्टे वे श्रीराम को अयोध्या लौटा लाने के लिए अधीर हैं। भरत की लोकरंजनशीलता का यही पर्याप्त प्रमाण है कि उस समय के विक्षुब्ध वातावरण में, जबकि प्रजा कुछ भी कह सकती थी, अयोध्या में प्रवेश करते ही प्रजा को अपने आचरण द्वारा अपना अनुगामी बना लेते हैं।

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥

इस उक्ति द्वारा अयोध्या की प्रजा, भरत का अभिवादन करती है। वास्तव में भरत, राम की प्रतिमूर्ति थे। श्रीराम को उन पर अटल विश्वास था। वे पूर्ण रूप से जानते थे कि- "भरतहि होइ न राजमदु विधि हरि हर पद पाइ।" भरत की अभिमानशून्यता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है?

श्री राम का सब भाइयों में सबसे अधिक प्रेम भरत पर ही था।

भयउ न भुवन भरत सम भाई।

भरत और श्रीराम के परस्पर-स्नेह की थाह तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी नहीं ले पाते थे।

अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को।।

वन जाते समय श्रीराम, अपने भाई भरत को ही अयोध्या की प्रज़ा के पालन का भार सौंपते हैं।

सो विचारि सहि संकटु भारी।
करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥

भरत ने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा पर अपनी समस्त इच्छाओं का बलिदान कर दिया और वियोग को शिरोधार्य कर लिया।

परन्तु यह सब केवल चौदह वर्ष की अवधि तक है।

चौदह वर्ष की अवधि-समाप्ति के उपरान्त तो एक क्षण का वियोग भी भरत के लिए सह्य नहीं है। अवधि समाप्ति के एक दिन पूर्व, भरत अपने मन की स्थिति को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :-

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि विसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिन्दु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा।।
जों करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥

किन्तु इससे भरत का अभिप्राय अपने स्वामी पर दोषारोपण का नहीं है। अपने मन के भाव को वे अगली पंक्ति में ही स्पष्ट कर देते हैं।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥

भरत तो श्री राम के दर्शन के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं।

मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

किन्तु किसी कारण वश अवधि-समाप्ति के पश्चात् भी यदि दर्शन न हो पाये, तो ऐसी स्थिति में अवश्य भरतजी अपने को अपराधबोध से ग्रस्त मानते हैं।

बीतें अवधि रहहिं जौ प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

भरत के ये सब विचार और वितर्क अपने आराध्य राम के दर्शन की अधीरता के विभिन्न रूप हैं।

भरत भावुक अवश्य हैं, किन्तु उनकी भावुकता ऐसी नहीं है कि वह उन्हें उनके मार्ग से विचलित कर दे। उनके इसी गुण ने उन्हें धर्म-प्राण और कर्तव्यनिष्ठ बना दिया। अपने बन्धुजनों के प्रति, माताओं के प्रति, पूज्य जनों के प्रति और प्रजाजनों के प्रति उन्होंने समुचित कर्त्तव्य का निर्वाह किया। भरत के शील-स्वभाव की मर्यादा वेदों से भी परे थी।

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ।

भरत जी ने सदैव फलासक्ति रहित उत्सर्ग किया और इसीने उन्हें महान् संत बना दिया।

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।

फल की अकामना ही भक्ति की पराकाष्ठा है और इसी के द्वारा भक्त परम पद को प्राप्त करता है। इसीलिए अनेक स्थलों पर भक्त को भगवान् से बड़ा कहा गया है और स्वयं भगवान् से भक्त की महत्ता स्वीकार करायी है। "जगु जप राम, रामु जप जेही।" में यही भाव ध्वनित होता है। यही भक्त के परम पद की चरम सीमा है।

यदि भरत का अवतार न होता तो विश्व में आज हम उत्कृष्ट कर्तव्य-परायणता, निश्छल स्नेह, निर्मल भक्ति और उज्ज्वल उत्सर्ग की एक साथ कल्पना किसमें करते? आज देश में स्वार्थ और पदलिप्सा अपनी चरमसीमा पर है। क्षुद्र स्वार्थ के लिए भाई, भाई का गला काट रहा है। निश्चय ही यह प्रवृत्ति आत्मघाती है। इससे देश का अमंगल हो रहा है। ऐसी भयंकर स्थिति में देश को सही दिशा में ले जाने के लिए भरत का चरित्र आलोक-दीप का कार्य करेगा। व्यापक राष्ट्रीय सन्दर्भ में आज के युग में कुमार भरत की सर्वाधिक प्रासंगिकता है। ❑

सुचिरेणापि कालेन यशः किञ्चिन्मयार्जितम्।
अचिरेणैव कालेनभरतेनाद्य सञ्चितम्॥
– प्रतिमानाटक

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि

भगवान् श्रीराम अपार कृपा के सागर है। उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। अपने जन को दुःखी देख वे तनिक में दयाद्रवित हो जाते हैं। अपने जन की पीड़ा उन्हें कभी सहन नहीं होती। उनका हृदय पुष्प से भी कोमल है। पुष्प तो आतप अथवा वृष्टि के आघात से ही मुरझाता है, किन्तु भगवान् का हृदय तो दूरस्थ अपने जन की पीड़ा से भी व्यथित हो उठता है। उसकी आर्त्त पुकार से वे तत्क्षण उसके दुःख-निवारण हेतु नंगे पैर दौड़ पड़ते हैं। भक्त यदि प्रभुदर्शन की आस लगाता है, तो भगवान् उसके पास स्वयं पहुँच जाते हैं। मानस में ऐसे प्रसंग भरे पड़े है, जहाँ भक्त ने प्रभु से मिलने की आस लगाई और प्रभु, प्रेम की डोर से बंधे भक्त के पास पहुँच जाते हैं।

मतंग ऋषि ने शबरी से कभी कहा था कि भगवान् राम एक दिन उसकी कुटिया में आयेंगे। बस क्या था? शबरी की टेक भगवान् से लग गई और तब से हर क्षण वह अपनी कुटिया में भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। समय बीतता गया। भगवान् नहीं आये। किन्तु भोली शबरी भी अपने विश्वास की पक्की थी। उसने अपनी आस नहीं छोड़ी। भले ही, इस आस में वह बूढ़ी हो गयी। अन्त में भगवान् पधारे शबरी की कुटिया में। जैसा सरल हृदय भक्त का, बस वैसा ही हृदय भगवान् का-जिन्हें शबरी के बेर खाते कभी यह भान नहीं हुआ कि वे बेर तो शबरी के जूठे हैं और भोली शबरी को भी यह भान नहीं था कि जो बेर वह भगवान् को खिला रही है, वे उसके जूठे हैं। वह तो प्रभु के प्रेम में कुछ इस प्रकार डूबी हुई थी कि उसे केवल यह भान था कि जो बेर वह भगवान् को खिला रही है, वे मीठे हों। भूल से भी भगवान् के मुँह में एक भी खट्टा बेर न पहुँच जाये। वहाँ तो भक्त और भगवान् के भोलेपन में होड़ लगी हुई थी। भगवान् बेर के नहीं, प्रेम के भूखे हैं।

अन्यत्र एक प्रसंग में भगवान् को गंगा पार कर आगे जाना है। गंगा भरी हुई है। पैदल पार करना सम्भव नहीं है। गंगा, नाव से ही पार करनी पड़ेगी। अतः भगवान् घाट पर केवट से उन्हें सीता-लक्ष्मण सहित गंगा पार कर देने का आग्रह करते हैं। बातचीत में केवट जान लेता है कि ये वही राम हैं, जिनके चरण-स्पर्श से अहल्या ने पाषाण-रूप से मुक्ति प्राप्त कर अपना पूर्व रूप प्राप्त कर लिया था। इससे भोला केवट यह मान बैठा है कि यह तो श्रीराम की चरण-रज का चमत्कार है,

जिससे एक निर्जीव शिला भी सजीव नारी-देह प्राप्त कर लेती है। अतः उसके मन में सहसा यह विचार आया कि भगवान् राम को अपनी नाव पर बैठाने से उनके चरणों की रज से यदि उसकी काठनिर्मित नाव की भी यही दशा हुई, तो वह तो कहीं का न रहेगा। किन्तु भगवान् को गंगा पार कराने की भी समस्या है। अतः निश्छल-भोले केवट के मन में उस समय जो भाव आया, वह उसने भगवान् के समक्ष प्रकट कर दिया।

जों प्रभु पार अवसि गा चहहू।

मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

भोले केवट को इसी में अपना भला दिखाई देता है। इसीलिए वह अपने आग्रह पर अडिग है। वह कहता है –

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।

तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

केवट के प्रेमभरे सरल वचनों पर भगवान् मुदित होते हैं और लक्ष्मण-सीता की ओर देखते हैं। यही भगवान् की केवट के लिए अनुमति थी।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।

बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥

भगवान् श्रीरांम का संकेत पाते ही केवट तत्काल अपने कठौते में जल भर कर ले आता है।

केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥

अति आनन्द उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा।।

प्रेमविभोर होकर केवट भगवान् के पग पखार रहा है। केवट के लिए जीवन के वे अद्वितीय क्षण थे, जब उसे सपरिवार भगवान् के उन चरणों को अपने हाथों से प्रक्षालित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो ऋषि-मुनियों को भी कठिन तप करने के बाद भी दुर्लभ रहते हैं। निश्छल प्रेम की डोर ही कुछ ऐसी होती है कि जिससे भगवान् सदा अपने को बंधा हुआ पाते हैं।

अरण्य में कपटपूर्वक सीता का हरण करके जब रावण उसे आकाश मार्ग से लंका ले जा रहा था, तब मार्ग में सीता अपनी शक्तिभर उसका विरोध करती जा रही थी और करुण क्रन्दन भी कर रही थी, ताकि उसकी रक्षा के लिए कोई दौड़

सके। मार्ग में सीता के क्रन्दन का स्वर वृद्ध जटायु के कानों में पहुंचता है। सीता को इस स्थिति में देखकर जटायु रावण को ललकारता है। रावण से उसका युद्ध होता है। वह रावण को आहत भी करता है। किन्तु जब रावण अपनी खड्ग से उसके पंख काट डालता है, तब जटायु विवश होकर धराशायी हो जाता है।

काटेसि पंख परा खग धरनी।

सीता की खोज करते-करते श्रीराम जब उस स्थल पर पहुँचते हैं, जहाँ जटायु मरणासन्न पड़ा हुआ है, तब जटायु की इस दशा का वे उससे कारण जानना चाहते हैं। जटायु अपने रुद्ध कण्ठ से श्रीराम को सारी स्थिति से अवगत करा देता है और कहता है कि सीता को लङ्काधिपति रावण बलात् हरण कर दक्षिण दिशा की ओर ले गया है। इतना कहते-कहते जटायु ने अपनी अन्तिम साँस छोड़ दी। जटायु और महाराज दशरथ की पूर्व में अभिन्न मित्रता थी। उसी आधार पर सीता को अपनी पुत्रवधू मानते हुए जटायु ने सीता की रक्षा का प्रयास किया था, जिसमें उसकी मृत्यु हुई। श्रीराम ने भी जटायु का अन्तिम संस्कार अगाध श्रद्धा एवं सम्मान के साथ स्वयं सम्पन्न किया।

तेहि की क्रिया यथोचित निजकर कीन्ही राम॥

रामायण में यह एक ऐसा प्रसंग है, जहाँ श्रीराम का श्रद्धासमन्वित कोमल चित्र प्रस्तुत हुआ है। तिर्यक् योनि के एक जीवधारी को पिता का सम्मान प्रदान करने का श्रीराम के जीवन का यह अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण अपने आप में अद्वितीय है।

रामायण के ये तीन प्रसंग-शबरी प्रसंग, केवट प्रसंग, जटायु प्रसंग-सम्पूर्ण रामकथा में अपने आप में बेजोड़ हैं, जहां श्रीराम के हृदय की सरलता के दर्शन होते हैं।

श्रीराम के हृदय का एक दूसरा पक्ष भी है जहाँ उन्हें अपनी प्रजा के हित में जीवन के कठोर निर्णय भी लेने पड़े हैं। अपने कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए कहीं उन्होंने राज्यसिंहासन का तृणवत् त्याग किया, कहीं दया का परित्याग किया, तो कहीं अपनी मार्मिक अन्तर्वेदना की चिन्ता न करते हुए अपने हृदय की दृढ़ता का परिचय दिया।

विवाह के तत्काल बाद ही महाराज दशरथ के द्वारा श्रीराम को

राज्याभिषिक्त करने के प्रस्ताव पर, महारानी कैकेयी के द्वारा उसका विरोध किये जाने पर, विमाता की इच्छा का सम्मान करते हुए राघवेन्द्र राम राजवैभव को तिलांजलि देते हुए तत्काल सीता और लक्ष्मण सहित वन की ओर प्रस्थान कर देते हैं।

राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाउ कीं नाईं।

वन में असंख्य कष्ट सहते हुए उन्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और लौटने पर जब राजसिंहासन पर बैठे, तो लोकरंजनकार्य में प्रवृत्त होकर प्रजा के कल्याण में लग गये। अपने निजी सुख की तनिक भी चिन्ता न की। प्रजा सुखी रहे। उसे किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। प्रजा के किसी भी व्यक्ति को जीवन में किसी भी प्रकार का दु:ख न झेलना पड़े। इसके लिए श्रीरामचन्द्र समाज-व्यवस्था की मर्यादा की संरक्षा में सदा सन्नद्ध रहे। व्यवस्था अथवा मर्यादा का अतिक्रमण उन्हें सहन नहीं था, क्योंकि मर्यादोल्लंघन से समाज में कष्टों की वृद्धि होती है। प्रजा को दुर्भिक्ष अथवा अकाल मृत्यु जैसी विपदाओं का सामना करना पड़ता है। इसीलिए श्रीराम स्थापित समाज-मर्यादा के विरुद्ध आचरण करने वाले एवं समाज में अकाल मृत्यु जैसी विपत्ति को लाने वाले तपस्यारत शम्बूक को मारने में भी नहीं हिचकिचाये। दया को त्यागा, किन्तु कर्तव्य का निर्वाह किया, ताकि प्रजा सुखी रहे। अपनी प्राणप्रिया सीता का परित्याग भी उन्होंने मात्र प्रजारंजन की भावना से किया। जीवन में अपने सुख की चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। श्रीराम ने यह सब इसलिए किया क्योंकि जीवन में कर्त्तव्य को वे सदैव सर्वोच्च मानते थे। उन्होंने स्थापित किया कि जीवन में कर्त्तव्य का स्थान भावना से कहीं ऊपर है।

लोककल्याण और प्रजारंजन के उद्योग में लगे श्रीराम को कभी-कभी भले ही कठोर बनना पड़ा हो, किन्तु उनका सहज स्वभाव तो कृपालु होना ही है। वे तो पलभर में दयाद्रवित हो जाते हैं और आर्त्त जनों पर अपने स्नेह की वृष्टि करते हैं। यही उनका मूल स्वभाव है। दया और प्रेम उनके सहज गुण हैं। परिस्थितिजन्य कठोरता तो मात्र अपवाद है। 'वज्रादपि कठोराणि' उनके चरित विरल किन्तु 'मृदूनि कुसुमादपि' शाश्वत हैं। ❑

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

- उत्तररामचरित

रामायण का अरण्यपरिवेश

रामचरितमानस एक अद्वितीय काव्यग्रन्थ है। राम-गुण-गान के साथ-साथ गोस्वामीजी को रामचरितमानस में और भी कुछ अभीष्ट रहा है। वे तो अरण्य संस्कृति के प्रवर्तक हैं। अपने समय के कवियों के बीच संभवतः केवल गोस्वामी जी ही एक ऐसे कवि हैं जिनकी दृष्टि राजप्रासादों की चमक-दमक मात्र में अटक कर नहीं रह गयी। उन्होंने पवित्र अरण्यपरिवेश का मुक्त रूप से निरूपण किया है। यही कारण है कि रामचरितमानस में कथा के आधे से अधिक भाग का विकास अरण्यों के बीच हुआ है। बालकाण्ड में महर्षि विश्वामित्र यज्ञरक्षा के लिए रामलक्ष्मण को वन में ले जाते हैं, जहां वे यज्ञविध्वंसक राक्षसों का संहार करते हैं। अयोध्याकाण्ड में महाराज दशरथ के आदेश से श्रीराम, भ्राता लक्ष्मण तथा भार्या सीता सहित चौदह वर्षो के लिए वन में जाते हैं। समग्र अरण्यकाण्ड और किष्किन्धाकाण्ड की कथा का प्रसार वनों के परिवेश में होता है। सुन्दरकाण्ड की अधिकांश कथा का विकास भी अरण्य के मध्य हुआ है। उत्तरकाण्ड में भी महान् चिन्तक काकभुशुण्डि के आश्रम के आसपास का परिवेश पवित्र अरण्यमय है। मात्र लंकाकाण्ड इसका अपवाद है, क्योंकि लंका में तो राक्षसी संस्कृति विद्यमान रही है।

भगवान् राम, लक्ष्मण और सीता के चरित का विकास मुख्य रूप से अरण्य परिवेश में ही होता है। श्रीराम का समस्त ऋषि-मुनियों के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव, अरण्यवासियों के प्रति उनका सहज सख्यभाव, मित्र को दिये गये वचन का परिपालन आदि-आदि सब वनों के बीच ही देखने को मिलते हैं। वहीं हम देखते हैं लक्ष्मण का अपने भाई श्रीराम और भाभी सीता के प्रति निश्छल सेवा भाव तथा सीता जी का अपने पति के प्रति सतत अनुगमन-भाव। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मात्र प्रासादों की चार दीवारों के भीतर नहीं होता। उसे अरण्यों का खुला और पवित्र वातावरण भी चाहिए।

वन में भगवान् राम के सम्पर्क में आये रीछ-वानरों और पक्षियों को भी अपने स्वभाव में निखार लाने का सुयोग मिला। कहीं-कहीं तो उनके चरित में विकास इतना उत्कृष्ट देखने को मिलता है कि मानव चरित भी संभवतः उनकी तुलना में बौना प्रतीत होने लगता है। ऋक्षराज जाम्बवान् और वानरश्रेष्ठ हनुमान् का प्रभुकार्य में अपने

को समर्पित करने में क्या व्यक्तिगत स्वार्थ था? लड़ाई तो राम-रावण के बीच थी। उन्हें तो बस निःस्वार्थ भाव से प्रभु की सेवा करने में ही परम आनन्द प्राप्त हो रहा था। प्रभु का जो आदेश मिले, उसे पूरा करने में ही वे अपने को धन्य मानते थे। इसी प्रकार पक्षियों में जटायु और काकभुशुण्डि के चरित का विकास जिस उत्कृष्टता से रामायण में किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने आप में कवि-कर्म का वह परम उत्कर्ष है।

यहां गोस्वामी जी को यह दिखाना अभीष्ट है कि प्रासादपरिवेश अथवा नगरपरिवेश में उत्तम मानवीय गुणों का विकास होवे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो तब होना चाहिए, जब सभी नगर सुविधाओं से कटे होते हुए और सम्पर्क के सभी साधनों से वंचित रहकर भी यदि अरण्यों के बीच वे ही उत्तम उदात्त गुण देखने को मिलें। निषादराज की कपटमुक्त मित्रता अथवा भोली श्रमणा शबरी का भगवान् राम के प्रति निश्छल अनन्य प्रेम किस से न्यून ठहरता है? श्रीराम के वनवास काल के मध्य उनके सम्पर्क में आने वाले पात्रों में श्रमणा शबरी ही एकमात्र पात्र है, जिसका भगवान् श्रीराम के प्रति अनन्य एवं निर्व्याज प्रेम है और जिसने भगवान् श्रीराम से उनकी भक्ति के बदले में उनसे कभी कुछ नहीं मांगा। निर्मल भक्ति की यह अपने आप में पराकाष्ठा है।

इस दृष्टि से 'मानस' की आज के सन्दर्भ में प्रासंगिकता और बढ़ गयी है। नागर सभ्यता में पले-बढ़े हम लोग, अरण्य संस्कृति को एकबारगी हेय ठहरा देते हैं। वहां के वासियों में उदात्त गुणों को स्वीकार करना तो दूर की बात है। इस दृष्टि से गोस्वामी जी की दूरदर्शिता स्पष्ट परिलक्षित होती है। आज के युग के लिए गोस्वामी जी के दर्शन की प्रासंगिकता है। इसका संकेत 'मानस' में वे दे चुके थे। वर्तमान युग में जिन वनजनों और गिरिजनों को अपनाने का अभियान चल रहा है, भगवान् राम ने उन्हें युगों पूर्व सहज भाव से अपने गले लगाया था।

अरण्यों में मनुष्य तो क्या, वहां के पशु-पक्षियों का निश्छल आचरण भी नागर संस्कृति के लिए अनुकरण का विषय है। इस दृष्टि से गोस्वामी जी को 'मानस' में कुछ पक्षियों के आचरण का निरूपण करने में अच्छी सफलता मिली है। मानस में मुख्य रूप से गृद्ध जटायु तथा काकभुशुण्डि के आचरण का अंकन मिलता है। साथ ही वहीं विष्णुवाहन गरुड़ और काकरूप में इन्द्र पुत्र जयन्त का चरितांकन भी

मिलता है। इनमें से जटायु निःस्वार्थ कर्त्तव्य भावना तथा काकभुशुण्डि साधु स्वभाव एवं तत्त्व ज्ञान के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। वहीं गरुड़ का प्रसंग आया है, जिन्हें अहन्ता और अभिमान का प्रतीक बतलाया गया है। उन्हें भी एक बार अभिमान के कारण कुतर्क के परिणाम स्वरूप मन में शंका उत्पन्न हुई थी कि जो भगवान् राम संसार के सब प्राणियों के भव-बन्धन काटते हैं, उन्हें भी रावण के साथ युद्ध में नागपाश में बँधना पड़ा। उस नागपाश को उन्होंने काटकर श्रीराम को मुक्त किया। अतः गरुड़ जी के मन में कुशंका ने जन्म ले लिया। उसके समाधान हेतु वे नारद जी के पास गये। नारद जी ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु उनका अज्ञान दूर नहीं हुआ। तब उन्होंने गरुड़ को ब्रह्माजी के पास जाकर अपनी शंका दूर करने का परामर्श दिया। जब गरुड़ ब्रह्माजी के पास गये, तो स्थिति की गम्भीरता को समझकर ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान् शंकर के पास जाने के लिए कहा। तब गरुड़ भगवान् शंकर के पास गये। शंकरजी ने दयापूर्वक उन्हें सन्तहृदय एवं महान् तत्त्वदर्शी काकभुशुण्डि जी के पास जाने का परामर्श दिया। तदनुसार काकभुशुण्डिजी के सम्पर्क में आने पर उनका अज्ञान दूर होता है तथा आत्मपरिष्कार हो जाता है। जयन्त तो प्रारम्भ से ही ईर्ष्या और कुटिलता का प्रतिनिधि पात्र रहा है। इसीलिए उसे अपनी करनी का फल भोगना पड़ा।

सामान्य रूप से समाज में गिद्ध और काक योनि के पक्षियों को सभी पक्षियों के बीच अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु गोस्वामी जी ने 'मानस' में इन्हीं दोनों पक्षियों के आचरण को इतना उत्कृष्ट निरूपित किया है कि मनुष्य योनि के प्राणियों को भी उनसे जीवन में बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है।

गिद्ध योनिधारी जटायु अपनी वृद्धावस्था का काल पंचवटी में निवास करते हुए किसी प्रकार व्यतीत कर रहा है। एक दिन अचानक उसने सीता का करुण क्रन्दन सुना, जिसे लंकापति राक्षस रावण शून्य पर्णकुटी से कपट पूर्वक हरण कर बलात् अपनी राजधानी लंका में ले जा रहा था। रावण का यह दुष्कृत्य जटायु से न देखा गया। उसने विलाप करती हुई सीता को धैर्य बंधाते हुए कहा कि बेटी सीते ! तुम दुःख मत करो। मैं अभी इस दुष्ट का संहार करता हूं।

सीत पुत्रि करसि जनि त्रासा।
करिहउँ जातुधान कर नासा॥

वृद्ध जटायु ने अपनी पूरी क्षमता से रावण का प्रतिकार किया और अपनी चोंच के तीक्ष्ण प्रहारों से उसे क्षत-विक्षत कर दिया। किन्तु आततायी रावण ने खीझकर अपनी खड्ग से उसके पंखों को काट दिया, जिससे जटायु असहाय होकर भूमि पर आ गिरा। एक विवश नारी का अपनी आंखों के सामने लज्जापहरण देखकर तत्काल जो किसी सच्चे वीर पुरुष का कर्त्तव्य होना चाहिए, उसी का रावण जैसे दुष्ट के हाथों सीता की दयनीय दशा देखकर जटायु ने निर्वाह किया। खोई हुई सीता की खोज करते-करते जब श्रीराम उस स्थल पर पहुंचे, तब सारा वृतान्त मरणासन्न जटायु ने उन्हें कह सुनाया। उसके बाद जटायु के प्राण-पखेरू उड़ गये। खिन्न श्रीराम ने पितृकल्प जटायु का अन्तिम संस्कार पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने ही हाथों से किया।

इस प्रकार जटायु को श्रीराम के हाथों जो सम्मान प्राप्त हुआ, वह शायद ही कभी किसी वीर पुरुष को आज तक भूतल पर प्राप्त हुआ हो। जटायु के शरीर छोड़ने में अपूर्व भव्यता है। गृद्ध जटायु के रूप में गोस्वामी जी ने एक विलक्षण कर्तव्यपरायण भारतीय वीर की कल्पना को साकार किया है।

काकभुशुण्डि को गोस्वामीजी ने एक अगाध ज्ञान के भण्डार तत्त्वज्ञानी, परम रामभक्त के रूप में निरूपित किया है, जिन्हें शापवश काक का शरीर धारण करना पड़ा था। उत्तर दिशा में सुन्दर नीलगिरि पर उनका आश्रम था।

उत्तर दिसि सुन्दर गिरिनीला।

तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला॥

निरन्तर रामकथा कहते हुए एवं प्रभु के गुणगान करते हुए उनका जीवनयापन होता था। उनकी कथा सुनने के लिए अनेक श्रेष्ठ पक्षी उनके स्थान पर उपस्थित होते थे। उनके आश्रम के चारों ओर एक योजन तक अविद्या का कोई प्रभाव नहीं था।

व्यापिहि तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत।

काकभुशुण्डिजी को भगवान् श्रीराम का बालरूप अत्यन्तप्रिय था। जब-जब भगवान् मानवदेह धारण कर भक्तों के लिए बहुलीलाएँ करते, तब-तब काकभुशुण्डिजी अवधपुरी अवश्य जाते और लघुवायसरूप धारण कर भगवान् के विविध बालचरित देखकर मुदित होते थे।

इन्हीं काकभुशुण्डिजी के पास भगवान् शिव के परामर्श से गरुड़जी पहुँचते हैं। वहां उनकी विविध शंकाओं का समाधान तो होता ही है, प्रभु श्रीरामजी की भक्ति का परम कारुणिक प्रसाद भी उन्हें काकभुशुण्डिजी से प्राप्त होता है।

काकभुशुण्डिजी विलक्षण रामभक्तिमय व्यक्तित्व के धनी हैं। उनका निर्मल राममय व्यक्तित्व अरण्य संस्कृति की उपज है।

मानस में एक ऐसा काक भी आया है, जिसने अपने गिरे चरित्र का परिचय दिया। वह था काक के रूप में इन्द्रपुत्र जयन्त जिसने श्रीराम के वनवासकाल में एक दिन जब वे माता सीता के साथ चित्रकूट में एक स्फटिक शिला पर आसीन थे, तभी सीताजी के चरण पर अपनी चंचु से आघात किया।

सीता चरण चोंच हतिभागा।
मूढ मंदमति कारन कागा॥

चंचुप्रहार कर वह तो भाग गया, किन्तु श्रीराम के सींकसायक ने उसका पीछा किया। अपने कुत्सित कर्म का दण्ड उसे अवश्य सहना पड़ा। आत्मरक्षार्थ वह कहां नहीं गया? किन्तु जब उस काकरूप जयन्त ने प्रभु श्रीराम जी के समक्ष अपना अपराध स्वीकार कर लिया तब कहीं उसे भीषण त्रास से मुक्ति मिली। फिर भी एक आंख से तो उसे वंचित होना ही पड़ा। इस चरित्र को अन्य खग-चरित्रों से भिन्न निरूपित करने के पीछे गोस्वामी जी का अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि घटना भले ही अरण्य में घटी हो, किन्तु वह पक्षी अरण्य का नहीं था। वह वन में जन्मा अथवा वहां पोषित-संवर्धित नहीं था। वह तो भिन्न संस्कृति की उपज था। इसीलिए उसका आचरण अरण्य-संस्कृति से भिन्न था। काकरूप में जयन्त उन्हीं दुर्बलताओं के शिकार का प्रतीक है, जिनका कोई भी व्यक्ति शिकार हो सकता है, जिसके व्यक्तित्व का निर्माण अरण्य के पवित्र एवं छद्मविहीन परिवेश से हटकर अन्यत्र हुआ है। इसी प्रकार शूर्पणखादि राक्षसवंशीय पात्र भी अरण्य के पवित्र वातावरण को अपने आचरण से प्रदूषित करने का प्रयास करते हैं, किन्तु सभी को वन की पवित्र संस्कृति को दूषित करने का यथायोग्य फल भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने हमारे समक्ष दोनों प्रकार के पात्रों के चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें से जटायु और काकभुशुण्ड़ि तो सत्पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं और जयन्त जैसे पात्र असत्पक्ष का। इसका कारण बड़ा स्पष्ट है। जटायु और

काकभुशुण्डि के संस्कार अरण्य के शुद्धपूत परिवेश के हैं, जबकि जयन्त को यह वातावरण कभी मिला ही नहीं। विशुद्ध वातावरण में चरित्र का विकास भी विशुद्ध ही होगा। भारत को सांस्कृतिक धरातल पर विश्व का सिरमौर बनाने का श्रेयं, यहां के त्याग और तपोमय वातावरण से संपृक्त अरण्यों को है, जहां बैठकर हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषिमुनि देश का मार्गदर्शन करते थे। उन्होंने हमें जो ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन दिया, वहं हमारी क्या निखिल विश्व की अमूल्य धरोहर है। जैसे प्रदूषणरहित शुद्ध-पवित्र पर्यावरणमय यहां के अरण्य रहे हैं, वैसे ही निश्छल, निष्कपट हैं उन अरण्यों में निवास करने वाले। यहां तक कि वहां की रीछ-वानर जातियां तथा तिर्यक् योनि के गृद्ध-काकादि पक्षी भी निर्मल-आचरण-सम्पन्न हैं। ❑

> **उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।**
> **निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥**
> **- रा.च.मा. उत्तरकाण्ड**

कवितावली का तत्त्व दर्शन

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के अतिरिक्त छोटी-बड़ी ग्यारह अन्य कृतियों की रचना की है। गोस्वामीजी की कीर्ति के प्रसार के लिए उनकी कृति रामचरितमानस ही पर्याप्त है, किन्तु अन्य रचनाओं में भी उनके कविकर्म का वैभव देखने मिलता है, विशेषकर गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिका में। रामचरितमानस के बाद ये तीन कृतियाँ गोस्वामीजी की रामभक्तिपरक विशिष्ट रचनाएँ है। गीतावली में रामचरितमानस की परम्परा से किंचित् हटकर, रामकथा-वर्णन के साथ सीतानिर्वासन का भी वर्णन मिलता है। विनयपत्रिका गोस्वामीजी के द्वारा अपना दुःख और क्लेश निवेदन करने के लिए भगवान् श्रीराम को लिखी गयी पाती है, जिसमें गोस्वामीजी ने अपनी पाती को भगवान् श्रीराम के समक्ष प्रस्तुत करने की माता जानकी से प्रार्थना की है।

कवितावली भी उनकी रामभक्तिपरक कृति है, किन्तु रामचरितमानस, गीतावली और विनय पत्रिका की शैली से हटकर। यह रचना प्रमुखतः कवित्त, सवैया और छप्पय जैसे प्रौढ़ छन्दों में निबद्ध है। कवितावली भी रामचरितमानस के समान सात काण्डों में संग्रथित है। विषयवस्तु वही और काण्डों का क्रम भी रामचरित मानस के ही समान। किन्तु वर्णन शैली में भिन्नता है। फिर भी वह मोहकता और चारुता लिए हैं। नयी-नयी वहां उद्‌भावनाएँ है।

काण्डों में चुने हुए प्रसंगों का विषयानुकूल छन्दों में वर्णन मिलता है। अरण्य और किष्किन्धा काण्ड तो मात्र एक-एक पद्य में ही वर्णित हैं। शेष काण्डों का वर्णन अधिक विस्तार से हुआ है। उत्तर काण्ड की विषय वस्तु रामचरितमानस की विषय वस्तु से हटकर है। इसमें गोस्वामीजी ने श्रीराम की कृपालुतादि का निरूपण और रामनाम की महिमा के अतिरिक्त कई देवी-देवताओं की स्तुतियों का गान किया है। भक्ति के प्रवाह के मध्य गोस्वामीजी ने आत्म-कल्याण/तत्त्वदर्शन की भी चर्चा की है, भले ही कवितावली कोई दर्शनकृति नहीं है। तत्त्वज्ञान के संस्कार गोस्वामी तुलसीदास को उनके गुरु से प्राप्त हुए थे।

तुलसी कहते है, कि उनके राम ही परात्पर ब्रह्म हैं। इसी पृष्ठ भूमि में उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु किसी सम्प्रदायगत दुराग्रह से कोसों

दूर रहते हुए। कवितावली में संकेत मिलता है कि उनके राम ज्ञानातीत हैं, गुणातीत हैं तथा कारण के भी कारण हैं। (उत्तर. 126)। वे सर्वव्यापक है। हिरण्यकशिपु के द्वारा प्रह्लाद से यह पूछे जाने पर कि "तुम्हारे राम कहाँ हैं?" प्रह्लाद पूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपने पिता को उत्तर देते हैं, "राम तो सर्वत्र विद्यमान हैं।" "राम कहाँ?" "सब ठाउँ हैं।" "खम्भ में?" "हाँ।" (उत्तर. 128)। प्रह्लाद का यह कथन श्री राम की सर्वव्यापकता का उज्ज्वल उदाहरण है।

गोस्वामीजी श्रीराम को संबोधित करते हुए कहते हैं, कि वे उन (श्रीराम) में स्थित हैं और श्रीराम उनके हृदय में विराजमान है। इनमें कोई सन्देह नहीं है। "जौं कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुम्ह में, तुम्हहू उर माहीं। जानकीजीवन! जानत हौं, हम हैं, तुम्हरे, तुम्ह में सकुनाहीं।" (उत्तर. 94)। तुलसीदास का यह कथन रामचरितमानस की उक्ति "हरिव्यापक सर्वत्र समाना।" (बाल 184-5) का प्रकारान्तर से अनुवाद है।

गोस्वामी जी कहते हैं, कि राम को जान लेने में ही जीवन की सार्थकता है, अन्यथा जीवन जीना व्यर्थ है। "जानकी जीवनु जाने बिना जग ऐसेउ जीवन जीव कहाए।" (कविता. उत्तर. 45)। राम को जान लिया अर्थात् परम ज्ञेय तत्त्व को जान लिया अर्थात् जीवन में जानने योग्य सब कुछ जान लिया।

संसार की निःसारता/अनित्यता का निरूपण करते हुए वे कहते हैं, "सब फोटक साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।" (उत्तर. 41)। यह सब दृश्यमान जगत् निरर्थक है। निःसार है। अपना कुछ नहीं है। सब कुछ बस दो दिन का सपना है।

इसीलिए गोस्वामी जी महान् अनर्थकारी संसार-प्रसार के प्रति आसक्ति/ममत्व को त्यागने एवं विज्ञ पुरुषों का सत्संग करने का परामर्श देते हैं।

सुत दार अगारु सखा परिवारु
बिलोकु महा कुसुमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै समता सजि,
संत सभा न विराजहि रे॥ उत्तर. 30

गोस्वामीजी जानते हैं कि मुक्ति के मार्ग में संसार ही बन्धनकारी तत्त्व

बनता है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश,- इन पाँच तत्त्वों से मिलकर शरीर की रचना हुई है। इसका उल्लेख उनकी "जड पंच मिलै जेंहि देह करी।" (उत्तर. 27)- इस उक्ति में मिलता है।

गोस्वामीजी कहते हैं, कि जो संसार में उत्पन्न होता है, वह आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक- इन तीन तापों से जलता रहता है। इसमें किसी दूसरे का कोई दोष नहीं। क्योंकि जीव अपने ही किये का फल पाता है। इसी कारण स्वप्न में भी लेशमात्र सुख उसे नहीं मिलता।

जीव जहान में जायो जहाँ,
सो तहाँ 'तुलसी' तिहुँ दाह दहो है।
दोसु न काहू, कियो अपनो,
सपनेहूँ नहीं सुखलेसु लहो है। उत्तर.-91

गोस्वामीजी की इस उक्ति में कर्म-फल का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है। रामचरितमानस में तो यह सिद्धान्त और अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त मिलता है।

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ अयोध्या. 218-4

जीव की दयनीय दशा का निरूपण करते हुए वे कहते हैं, कि जब जगत् में वह जन्मता है, तब से ही अपने को लोभ, क्रोध और काम के वश में पाता है।

मेरें जान जबते हौं जीव ह्वै जनम्यो जग,
तबतें बेसाह्यो दाम लोह कोह काम को।
मन तिन्ही की सेवा, तिन्हीं सों भाउ नीको॥ कविता. उत्तर. -70

इस प्रकार से जीवन का जीना तो अपने जीवन को व्यर्थ ही खोना है, जिसमें हम दुःखों और रोगों के कारण रोते ही रोते हैं और काम-क्रोध-जन्य मानसिक व्यथा को सहने के लिए विवश हैं।

जागिए न सोइए, बिगोइए जनमु जायँ,
दुःख, रोग, रोइए, कलेसु कोह-काम को। उत्तर. - 83

इस जगत् प्रपंच से मुक्ति का मार्ग है, त्रिविध ताप से आत्यन्तिक निवृत्ति

और उसका उपाय है, आत्मज्ञान प्राप्त करना-वह ज्ञान जिसे पा लेने के बाद बस और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता और जिसके पा लेने के बाद जीव का परमतत्त्व/परमसत्ता के साथ एकात्मभाव हो जाता है।

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। रा.च.मा. अयोध्या 126-3

मुण्डकोपनिषद् में यही भाव "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" (3-2-9) - इस मंत्र के द्वारा व्यक्त किया गया है। इस स्थिति में जीव की प्रपंचजन्य भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। सब संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त बन्धन विशृंखलित हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डक 2-2-8

उसे सर्वत्र बस एक ही तत्त्व के दर्शन होते हैं। इस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से तादात्म्य हो जाने पर अर्थात् भवजन्य क्लेशों से निवृत्ति हो जाने पर यज्ञ, याग, योग, वैराग्य, तपस्यादि साधनों का फिर कोई महत्व नहीं रह जाता। गोस्वामीजी ने कवितावली में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है, कि चाहे कोई, जप, योग-वैराग्यादि कोटि उपाय करे, अनेक जन्मों तक देवताओं की आराधना में जीवन लगा दे, अथवा तपस्या में अपना जीवन खपा दे- यह सब व्यर्थ है।

यह सब करके भी श्रीराम की अनुकूलता के बिना दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है और दुःखों से आत्यन्तिक छुटकारा हो जाने के बाद फिर उनका कोई महत्व नहीं रह जाता।

जप, जोग, बिराग, महामख-साधन, दान, दया, दम कोटि करै।

मुनि-सिद्ध, सुरेसु, गनेसु, महेसु से सेवत जन्म अनेक मरै।

निगमागम-ग्यान, पुरान पढ़ै, तपसानल में जुगपुंज जरै।

मनसों पनु रोपि कहैं तुलसी, रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥ उत्तर. - 55

यहाँ दुःख से गोस्वामी जी का तात्पर्य जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में फंसने से है, जिससे मुक्ति श्रीरामजी की कृपा के बिना संभव नहीं है। ☐

जाके प्रिय न राम बैदही

"विनय-पत्रिका" गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा भगवान् श्रीराम के प्रति प्रदर्शित विनय के भावपूर्ण पदों का संकलन है। इन विनय पदों में प्रभु श्रीराम के प्रति भक्त के हृदय के भावों को उड़ेल दिया गया है। इनमें भक्त के मन के दैन्य, अनुताप, आत्मग्लानि तथा समर्पण आदि के भाव अभिव्यंजित मिलते हैं। पदों में सहज विनयभाव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। उनमें अपने प्रभु के कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने की भक्त की उत्कट लालसा भी परिलक्षित होती है। "जाके प्रिय न राम बैदेही" - यह पंक्ति विनयपत्रिका के ऐसे ही एक अत्यन्त भावपूर्ण पद में आती है।

गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भगवान् राघवेन्द्र और जगज्जननी माता जानकी जिसको प्रिय नहीं है, वह किसी का प्रिय नहीं है, बल्कि वह तो शत्रु के समान परित्याज्य है। उसकी संगति न करने में कल्याण है। भगवान् के भक्त एवं भगवान् से विरोध करने वाले के बीच भाव सामंजस्य कभी नहीं हो सकता, भले ही वह निकटतम संबंधी क्यों न हो। ऐसी स्थिति में तो भगवान् के विरोधी का रिपुवत् परित्याग ही श्रेयस्कर है।

ऐसा प्रतीत होता है, कि गोस्वामीजी को, जो कि मीरा बाई के कुछ परवर्ती ही रहे हैं, उनके उन कष्टों की जानकारी रही है, जो मीरा बाई के ससुराल पक्ष ने उन्हें जीवन भर पहुँचाये और जिनके कारण गिरिधर गोपाल की साधना- आराधना में मीरा बाई को पग-पग पर विघ्न आये तथा परिणामस्वरूप उन्हें राजप्रासाद ही छोड़ना पड़ा। संभवतः मीरा बाई जैसे त्रस्त एवं दुःखी जनों के सान्त्वनार्थ गोस्वामीजी ने इस प्रासंगिक पद की रचना की हो, जो अपने आप में अद्वितीय है। पद में उन सगे संबंधियों से सदा दूर रहने का परामर्श है, जो भगवान् से द्रोह करते है।

भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे साक्षात् धर्म के अवतार हैं। धर्माचरण की मर्यादा के संस्थापक एवं धर्म के संरक्षक हैं। शील के प्रवर्तक हैं। अतः जहां भी शील-च्युति का प्रसंग हो, मर्यादा का अतिक्रमण हो, धर्म की ग्लानि हो, अधर्म का उद्भव हो अथवा अत्याचार और अनाचार हो, तो वह भगवान् राम का सीधा विरोध

है और इस प्रकार के निन्दनीय आचरण में लिप्त प्राणी भगवान् का द्रोही है। भारतीय वाङ्मय इसका साक्षी है। हिरण्यकशिपु, रावण, कंसादि असुर इसके उदाहरण हैं। साहित्य में इस प्रकार के एक नहीं, दो नहीं, अपितु अगणित उदाहरण भरे हुए हैं, जहां सत्य पर, धर्म पर, शील पर अपसंस्कृति ने अपनी पूरी शक्ति से आक्रमण किया। प्रभु पर पूर्ण भरोसा रखते हुए सत्य-धर्म-शील ने संकट का सामना किया और अन्त में विजय उन्हीं की हुई। आक्रान्ता ने इसकी चिन्ता नहीं की, कि उसके आक्रमण का लक्ष्य उसका आत्मज, अनुज अथवा अन्य कोई आत्मीय है। उसे तो बस सत्य पर, धर्म पर अथवा शील पर प्रहार करना है। प्रत्यक्ष रूप से हो अथवा परोक्षरूप से राम का विरोध करना है। सत्य अथवा शील पर चोट करना है। किन्तु सत्यार्थी भी अपने व्रत से कभी विचलित नहीं होता। पूरे विश्वास और साहस से आक्रमण का सामना करता है। यदि वह अनुभव करता है कि उसके धर्माचरण को ध्वस्त करने वाला स्वयं उनका पिता अथवा वरेण्य संबंधी है, तो वह उसके प्रहार का भी सामना करता है और राम विरोधी होने के कारण उनसे सम्बन्ध समाप्त करने में पीछे नहीं हटता।

कठोपनिषद् में नचिकेता का चरित्र एक अनुपम आदर्श प्रस्तुत करता है। जब वे देखते हैं, कि उनके पूज्य पिताजी विश्वजित् यज्ञ में जीर्ण-शीर्ण गायों का दान कर रहे हैं और हृष्ट-पुष्ट गायें बचा रहे हैं, तब बालक होने पर भी उनका सत्याचरण उन्हें मूंक नहीं रहने देता और वे अपने पिता वाजश्रवा से पूछ बैठते है - "तत कस्मै मां दास्यसि? (पिताजी आप मुझे किसे देंगे?)- यह प्रश्न उचित इसलिए था क्योंकि विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर दिया जाता है और स्वपुत्र का दान किये बिना वह पूर्ण नहीं होता। सर्वस्व दान तभी पूर्ण होता है, जब अपनी कोई वस्तु दान करना शेष न रहे, यहाँ तक कि प्रिय पुत्र भी, जबकि वहाँ वाजश्रवा का मन अभी अच्छी और बूढ़ी-दुबली गायों के बीच में ही उलझा हुआ था। मोहग्रस्त पिता के अधर्माचरण का बालक नचिकेता ने अल्पवय में भी विरोध किया। नचिकेता के बारबार हठपूर्वक पूछनें पर वाजश्रवा ने खीझकर कह दिया कि "तुम्हें मृत्यु देव को दूँगा।" बालक नचिकेता ने पिता वाजश्रवा के इन वचनों को पित्रादेश मानते हुए उसका पालन किया और अपने शरीर और प्राणों के प्रति तनिक भी मोह न करते हुए यमलोक पहुँच गये। इस प्रकार बालक नचिकेता ने अपने ऐहिक जीवन को सत्य की वेदी पर निछावर कर दिया एवं धर्म की रक्षा की। धर्म के पद को उन्होंने

पिता के पद से भी ऊँचा ठहराया। जिसे धर्माचरण प्रिय नहीं, प्रभु उसे क्या प्रिय होंगे? फिर उसे त्यागने में संकोच कैसा? नचिकेता ने भी उस समय वही किया।

प्रह्लाद को तो धर्म का पक्ष ग्रहण करने तथा भगवान् विष्णु का नामोच्चारण करने के लिए अपने पिता से ही सीधा संघर्ष करना पड़ा। प्रह्लाद को क्या कम कष्ट सहने पड़े? हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र को समाप्त करने के लिए क्या कुछ नहीं किया? पहाड़ से नीचे धकेल दिया। आग में झोंक दिया। किन्तु हिरण्यकशिपु को हर मोर्चे पर मुँह की खानी पड़ी। क्योंकि प्रह्लाद की जीवन डोर तो स्वयं भगवान् थामे हुए थे। अपने पिता हिरण्यकशिपु से अवश्य उन्होंने संबंध-विच्छेद कर लिया क्योंकि वह भगवान् का विरोधी, विष्णु-द्रोही था। भगवान् के विरोधी से सम्बन्ध कैसा? फिर चाहे वह पिता ही क्यों न हो।

तजिए ताहि कोटि बैरी सम।

हिरण्यकशिपु को अपनी करनी का फल मिला और कुमार प्रह्लाद जगत् में श्रेष्ठ भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

वामनरूप भगवान् विष्णु को महाराज बलि के द्वारा निखिल पृथिवी दान किये जाने के अवसर पर उनके कुल गुरु शुक्राचार्य के द्वारा विघ्न उपस्थित करने की स्थिति में दानवीर राजा बलि ने अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने में किंचित् भी संकोच नहीं किया, क्योंकि आचार्य शुक्र ने धर्म के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया था और वे अधर्म के मार्ग पर चल रहे थे। शिष्य के दानकर्म में वे बाधक बने थे और भगवान विष्णु का सीधा विरोध किया था। जो भगवान् का विरोधी हो, वह शत्रु के समान त्याज्य होता है। दानी-श्रेष्ठ धर्मवीर महाराज बलि ने भी वही किया - **"बलि गुरुतज्यो।"**

राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न इन चारों भाईयों के विवाह के उपरान्त वृद्ध महाराज दशरथ ने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को राज्यभिषिक्त करने का निश्चय किया। इस सुखद समाचार से सारी अयोध्या हर्षनिमग्न थी। स्वयं महारानी कैकेयी भी। किन्तु केवल कैकेयी की दासी मन्थरा प्रसन्न न थी। उसमें उसे अपनी महारानी कैकेयी का तथा अपना नुकसान दिखाई दे रहा था। अत: स्थिति को मोड़ देने के लिए उसने अपनी रानी के कानों में विष घोल दिया कि "वे ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को चौदह वर्ष के लिए वनवास दिलाएँ और उनके स्थान पर पुत्र भरत को राज्य सिंहासन पर आसीन

कराएँ।" महाराज दशरथ को विवश होकर महारानी कैकेयी की इच्छा का पालन करना पड़ा। तद्नुसार श्रीराम को चौदह वर्ष के लिए वनगमन का आदेश हुआ और कुमार भरत को अयोध्या का राजपद प्राप्त हुआ। भरत उस समय ननिहाल में थे। इस बीच महाराज दशरथ श्रीराम का वियोग सहन न करने के कारण सुरधाम सिधार गये। जब भरत अयोध्या लौटे तब उन्हें मन्थरा-कैकेयी के कुटिल षड्यंत्र का पता चला। उन्हें इसकी आशा भी नहीं थी, कि उनकी माता का आचरण इतना जघन्य हो सकता है। कुमार भरत को अपने को कैकेयी का पुत्र कहलाने में भी ग्लानि हो रही थी। फलस्वरूप उन्होंने अपनी माता की उसके कपटाचरण के लिए अति कठोर शब्दों में भरसक निन्दा की-

कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाझाँ॥

कुमार भरत का श्री राम के प्रति अगाध प्रेम था। उनके चरणों में उनकी सहज भक्ति थी। श्रीराम के प्रति उनकी माता का कपटपूर्ण व्यवहार भरत को असहनीय था। राम-विरोध तो उनके लिए अक्षम्य था। राम विरोधी उनके पास ठहर ही नहीं सकता था। इसीलिए अपनी जननी को भी छोड़ने में भरत ने एक क्षण का विलम्ब नहीं किया। रामद्रोही तो भरत का प्रिय हो ही नहीं सकता। जिसे राम-वैदेही प्रिय नहीं, भरत तो उसे कोटि-बैरी-सम त्याग देते हैं, भले ही वह उनका परम स्नेही क्यों न हो।

विभीषण को जैसे ही ज्ञात होता है, कि उनका ज्येष्ठ भ्राता रावण, जानकी और जानकीनाथ से द्रोह करता है, वे उससे छुटकारा पाने को उद्यत हो जाते हैं। वैसे विभीषण ने रावण को बहुत समझाया कि राम से विरोध उसके लिए उचित नहीं है, किन्तु रावण ने उसकी एक नहीं मानी और भगवान् राम से हर प्रकार से विरोध करता रहा। विभीषण के लिए जैसे ही उचित घड़ी आयी, उन्होंने रावण का साथ छोड़ा और श्रीराम की शरण में जा पहुंचे।

रावण के सिर पर काल मंडरा रहा था। परिणाम सामने था। सुवर्ण की लंका धू-धू कर जल गयी। रावण श्रीराम के हाथों मारा गया और उसका वंश, केवल विभीषण को छोड़कर, समूल नष्ट हो गया। भगवान् राम से विरोध करने का फल राम विरोधी को भुगतना पड़ा। विभीषण ने रावण का साथ राज्यप्राप्ति के लोभ से नहीं छोड़ा, बल्कि इसलिए कि वह रामद्रोही था। जिसे दशरथनन्दन और जनक-

नन्दिनी प्रिय नहीं, उसका साथ कौन करेगा? परम सुख की प्राप्ति हेतु उसका साथ जितनी जल्दी छूटे उतना ही उत्तम है। प्रभु विरोधी की संगति से प्रेय और श्रेय दोनों विनष्ट होते हैं।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण की वंशी की धुन सुनकर गोपियाँ अपना सब कुछ छोड़कर-यहां तक कि अपने कान्त को भी भूलकर महारास में सम्मिलित होती हैं। आध्यात्मिक भूमि पर गोपियों का कृष्ण से यह मिलन जीव-आत्मा का मिलन रहा है, जिसमें जीव की परम सत्ता से एकाकार होने की अभिव्यक्ति है। इस स्थिति में तो संसार के सभी पदार्थ हेय हो जाते हैं, यहां तक कि अपने सगे संबंधी भी। गोपियों ने लौकिक आनन्द के साधनों को छोड़ा, क्योंकि वे परमानन्द के मार्ग में बाधक बनते थे। वह परमानन्द तो अलौकिक है, नित्य है, अक्षय है, चिरन्तन है।

"जाके प्रिय न राम बैदेही" इस पद में गोस्वामी जी का सन्देश शाश्वत है। वह देश और काल की सीमाओं से परे है। उनका सन्देश आज भी उतना ही सटीक ठहरता है। राम तो सत्य रूप हैं, शीलरूप हैं। जहाँ सत्य नहीं, शील नहीं, वहाँ राम नहीं। अतः जहाँ सत्य-शील का संहार होता हो, वह स्थान सर्वथा परिहारयोग्य है। इसी प्रकार सत्यहन्ता अथवा शीलहर्ता भी शत्रुवत् हेय है, क्योंकि उसके अन्तकरणः में रामद्रोह समाया है। ❑

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि राम भगति सुरसरिता, आस करत ओसकन की॥
- विनय पत्रिका

महाकवि कालिदास के भगवान् शिव

भगवती सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि कालिदास भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ विभूति हैं। भारतीय संस्कृति के वे अनन्य उपासक हैं और भारतवर्ष की उज्ज्वल कीर्ति के अमर अनुगायक हैं। भारतीय संस्कृति की कतिपय अद्वितीय विशेषताएं हैं, जिनके कारण विश्व संस्कृति में उसका अपना स्थान है। भारत सदा धर्मप्राण देश रहा है और भारतीय संस्कृति सर्वदा धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत रही है। भारतीय धर्म का आधार है सर्वशक्तिमान् भगवान् की सत्ता में अटूट विश्वास। भारतीय संस्कृति में प्राणिमात्र के सुख और कल्याण की कामना सर्वोपरि है। भारतीय चिन्तन का दायरा मात्र एक सम्प्रदाय, एक जाति अथवा एक देश विशेष तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसमें तो निखिल ब्रह्माण्ड के जीवनधारियों के कल्याण की मंगलकामना का भाव निहित है।

सर्वे हि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणिं पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

महाकवि कालिदास की कृतियों में प्राणिमात्र के प्रति यही शुभ भावना व्यक्त मिलती है। साथ ही उनकी रचनाओं में प्रकृति के कण-कण के प्रति भी आत्मीयता का भाव मुखरित मिलता है। कालिदास की कृतियों में अभिव्यक्त यही सर्वव्यापक मंगलकामना उनकी अभीष्ट शिवाराधना है। शिव जगत् के मंगलकारक तत्त्व का ही सामान्य पर्याय हैं। महाकवि इसी अर्थ में शिव की उपासना करते हैं। चराचर के प्रति इसी व्यापक सर्वकल्याणभावना के उद्भावक के रूप में महाकवि की अपनी शैवपहिचान है। उनकी शिवभक्ति किसी सम्प्रदायगत संकीर्ण भावना से ग्रस्त नहीं है, वरन् उदारता, सहिष्णुता तथा सर्वसमभाव उसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। महाकवि कालिदास उदाररचेता, सहिष्णु और परम आस्थावान् हैं। संकीर्णता से वे कोसों दूर हैं।

कालिदास के अपने आराध्य भगवान् शिव उन्हें परमप्रिय हैं। उनके लगभग सभी ग्रंथों का प्रारंभ शिव की स्तुति से होता है। उनकी शिवभक्ति उनके काव्यों और नाटकों के मंगलाचरण से स्पष्ट है। महाकाव्यों में 'रघुवंश' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस कृति में महाकवि ने प्रतापी रघुवंशी राजाओं की धवल कीर्ति

का गान किया है, किन्तु इस महाकाव्य में कवि ने सर्वप्रथम अपनी प्रणामाञ्जलि भगवान् शिव तथा जगज्जननी भगवती पार्वती को ही अर्पित की है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ रघु. 1-1

इससे महाकवि की भगवान् आशुतोष के प्रति अनन्य भक्ति का संकेत मिलता है। उनकी कृति का वर्ण्य विषय चाहे ऐतिहासिक हो अथवा पौराणिक, चाहे वह रामायण से गृहीत हो अथवा महाभारत से, किन्तु कृति का प्रारंभ वे भगवान् शिव की स्तुति से ही करते हैं।

उनका द्वितीय महाकाव्य कुमारसम्भव तो भगवान् शिव की महिमा से ओतप्रोत है। सम्पूर्ण कुमारसम्भव, शिवजी के महिमामय पद्यों से परिपूर्ण है। इस महाकाव्य में गर्वस्फीत काम की दयनीय पराजय का वर्णन मिलता है। यहाँ कवि ने मदन के गर्व को तो ध्वस्त किया ही है, साथ ही इस तथ्य को भी रेखांकित किया है कि नारी की शारीरिक सुन्दरता उसकी सर्वोच्च सम्पत्ति नहीं है। उससे सच्चे प्रेम की उपलब्धि संभव नहीं है। महाकवि पुरुषार्थचतुष्टय के प्रतिपादक अवश्य हैं, किन्तु काम को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करने के वे कभी पक्षधर नहीं हैं।

कवि ने इस तथ्य को भी उजागर किया है कि बिना तपस्या के प्रेम, कभी परिनिष्ठित नहीं होता। कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में पार्वती की कठोर तपस्या का अत्यन्त उदात्त वर्णन है। उसी तप के बल पर ही पार्वती को भगवान् शिव की प्राप्ति हुई। बिना अपना शरीर तपाये धर्म की भावना उत्पन्न नहीं होती। जगज्जननी पार्वती ने भी घोर तपस्या करके ही अपना अभीष्ट प्राप्त किया। समग्र लोक के मंगल का भाव इसी तप में समाहित है। महाकवि का कुमारसंभव प्रधानतः शिवजी की महिमा से ओतप्रोत है, जो उनकी भगवान् शिव विषयक भक्ति को उद्घाटित करता है।

महाकवि कालिदासकृत मेघदूत का गीतिकाव्य के रूप में भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान है। यह गीतिकाव्य धनपति कुबेर के द्वारा दण्डित अपने भृत्य-एक यक्ष-के वर्ष भर के लिए निर्वासित जीवन का अभिलेख मात्र नहीं है, प्रत्युत यह तो भगवान् चन्द्रशेखर की महिमा से ओतप्रोत गीतिमय काव्यरचना है। इस गीतिकाव्य में महाकवि ने भगवान् शिव की महिमा का गान किया है और इस प्रकार उनके प्रति अपना प्रणतिभाव व्यक्त किया है।

मेघदूत में मेघ के माध्यम से कालिदास ने भगवान् शिव के चरणों में अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा उड़ेल दी है। उज्जयिनी में भगवान् महाकाल की सान्ध्य अर्चना के समय अपनी सेवाञ्जलि अर्पित करने का वे मेघ से अनुरोध करते हैं। यहां मेघ के माध्यम से भगवान् शिव के प्रति कवि ने अपना ही श्रद्धासमन्वित भक्तिभाव व्यक्त किया है।

भगवान् त्रिलोचन का वाहन वृष है अर्थात् वे वृष को अपने वश में करके उस पर आसीन होते हैं। वृष काम का प्रतीक है। इसके द्वारा कवि का संकेत है कि काम भगवान् शिव के वशीभूत है। इसीलिए मेघदूत में काम शिव के प्रदेश में प्रवेश करने का साहस नहीं करता। वह वहाँ चाप चढ़ाने में भी डरता है।

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद् वसन्तं,
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।। उत्तरमेघ - 10

मेघ इच्छाचारी है। आकाश में वह स्वेच्छा से विचरण करता है। इसीलिए कालिदास ने मेघ को कामरूप प्रकृतिपुरूष कहा है।

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मधोनः। पूर्वमेघ-6

अतः यक्ष कामरूप मेघ से उस अलका नगरी को जाने का अनुरोध करता है जिसके महल उस नगरी के बाहरी उद्यान में विराजमान भगवान् चन्दमौलि के मस्तक पर सुशोभित चन्द्र की विच्छुरित चन्द्रिका से धवलित हैं। यहां महाकवि का संकेत है कि कामतत्त्व को अपने कल्याण के लिए शिव के सान्निध्य में निगृहीत भाव से रहना ही श्रेयस्कर है। मेघदूतकाव्य शिवात्मक चैतन्य की प्राप्ति का संकेत देता है। महाकवि ने मेघदूत के समग्र परिवेश को भगवान् शिव की महिमा से सम्पृक्त निरूपित किया है।

कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का संस्कृत नाट्यसाहित्य में अप्रतिम स्थान है। इस नाटक में महाकवि कालिदास ने वासनाजन्य प्रेम को नकारा है और केवल उसी प्रेम को स्वीकृति प्रदान की है जो अनुताप की अग्नि में निरन्तर तपकर अन्त में कुन्दन की भांति खरा, पवित्र और दिव्य प्रमाणित होता है। इस नाटक में भगवान् शिव की महिमा का गान नाटक के प्रारम्भ में ही महाकवि ने किया है।

या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ अभि. 1-1

कालिदास ने नाटक की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का उल्लेख किया है। ये अष्टमूर्तियाँ हैं- सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। महाकवि ने इन अष्टमूर्तियों के लिए 'प्रत्यक्षाभिः' यह पद प्रयक्त किया है अर्थात् ये आठ मूर्तियाँ संसार में प्रत्यक्षगोचर होती हैं। इससे कालिदास का संकेत है कि इन प्रत्यक्ष मूर्तियों को धारण करने वाले इस जगत् के नियामक की सत्ता सन्देह से परे है। बल्कि सत्य तो यह है कि विश्व का प्रत्येक कण उनकी सत्ता को व्यक्त करता है।

कालिदास के द्वारा ऊपर जिन आठ मूर्तियों का वर्णन किया गया है, उनमें सारी सृष्टि ही समा जाती है। उन मूर्तियों के अतिरिक्त तो सृष्टि में कुछ शेष रह ही नहीं जाता। इससे ज्ञात होता है कि अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना के समय तक आध्यात्मिक धरातल पर महाकवि का इतना अधिक बौद्धिक विकास हो चुका था, कि उन्हें इस सृष्टि के कण-कण में सर्वोच्च सत्ता की अभिव्यक्ति का भान होने लगा था।

नाटक के भरत वाक्य में भी महाकवि ने भगवान् शिव से प्रार्थना की है कि वे उन्हें संसार में पुनः जन्म लेने से छुटकारा प्रदान करें। सम्भवतः अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक तक आते-आते महाकवि को लगने लगा था कि भगवान् आशुतोष की कृपा से, जीवन में जो कुछ पाने योग्य है, वह उन्हें प्राप्त हो गया है और अब उन्हें कुछ भी पाना शेष नहीं रह गया है। उनके जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो चुकी है। इसीलिए वे भगवान् नीललोहित से किसी सांसारिक वस्तु की याचना न करते हुए उनसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्रदान करने हेतु विनय करते हैं।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ वही 7-35

महाकवि ने अपने अन्य दोनों नाटकों की नान्दी में भी भगवान् शिव की

आराधना की है। मालविकाग्निमित्र नाटक की नान्दी में उन्होंने सामाजिकों के लिए भगवान् शिव से प्रार्थना की है, कि वे उनकी तामसी वृत्तिका शमन करें ताकि उन सबकी सन्मार्ग में प्रवृत्ति हो।

"सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।"

मालविका. 1-1

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीय नाटक की नान्दी में उन्होंने प्रेक्षकों के लिए भगवान् से उन्हें निःश्रेयस प्रदान करने की प्रार्थना की है।

"स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः।"

विक्रमो. 1-1

महाकवि की यह विशेषता है कि उनकी आराधना में व्यापक लोकमंगल की कामना निहित रहती है। वे भगवान् से सदा जनकल्याण की ही याचना करते हैं।

महाकवि कालिदास भगवान् शिव के उपासक होते हुए भी विष्णु तथा ब्रह्मा के प्रति समान रूप से श्रद्धा एवं आदर का भाव रखते हैं। वे क्षुद्र संकीर्ण धार्मिकता से सदा दूर रहे हैं। किसी एक देवता को बड़ा बतलाना और उनकी तुलना में दूसरे देवता को छोटा निरूपित करना वे नितान्त हेय और अज्ञानजनित मानते हैं।

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।

विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ।।

कुमारसम्भव 7-44

वास्तव में तो महाकवि को भिन्नता में अभिन्नता की अनुभूति होती है और वे नाना में एकत्व का दर्शन करते हैं। कालिदास के अनुसार यही शिव के स्वरूप का यर्थाथज्ञान है। यही भारतीय धर्म और दर्शन का अंतिम लक्ष्य है। ❑

संस्कृति का सार : अतिथिसत्कार

भारतीय संस्कृति की उदारशयता विश्व में विदित है। भारतीय संस्कृति में निखिल जीवसमुदाय के कल्याण की भावना के दर्शन होते हैं। "सर्वे हि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः" अथवा "वसुधैव कुटुम्बकम्"- ये विमल उद्गार भारतीय मनीषा में मुखरित मिलते हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मपरायण है। भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का आधार उसका संयममय जीवन-अनुशासन है। इस देश की यह विशेषता रही है, कि यहां सभी लोग स्वयं ही मर्यादा में रहते हुए अपना जीवन यापन करते थे। मर्यादा का अतिक्रमण यहां अक्षम्य दोष माना जाता था। वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्ण सम्मान था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- इन चारों आश्रमों की अपनी अपनी प्रतिष्ठा थी। चारों आश्रमों के बीच भी धर्मशास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम को सर्वोपरि माना- "तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।"

गृहस्थाश्रम उस काल में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की धुरी रहा है। समाज में प्राणिमात्र के जीवन निर्वाह एवं भरण पोषण का दायित्व इसी आश्रम का रहा है। समाज के प्रति अपने दायित्वों को वहन करने के लिए गृहस्थजन उस युग में अपने धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का पूर्ण निष्ठापूर्वक पालन करते थे। नित्य पंचमहायज्ञ करते थे। वेदों का अध्ययन-अध्यापन करते थे। देवताओं की सन्तुष्टि के लिए यज्ञ-हवन करते थे। माता-पिता और पूर्वजों की तुष्टि के लिए प्रतिदिन तर्पण-श्राद्ध करते थे। सभी जीवधारियों की उदरपूर्ति के लिए बलिरूप में वे उनके लिए प्रतिदिन भोजन की व्यवस्था करते थे, ताकि उनका भी भरण पोषण हो सके। इस प्रकार वे प्राणिमात्र की प्रसन्नता अर्जित करते थे। घर आये अतिथि का वे हृदय से स्वागत करते थे। सब प्रकार से अतिथि की सुख-सुविधा की मनोयोगपूर्वक व्यवस्था करते थे। इससे इस देश की अपने अतिथि के प्रति अटूट सम्मान की भावना व्यक्त होती है।

अतिथि-सत्कार-रूप यज्ञ का विवेचन हमारे धर्मशास्त्रों, स्मृतिग्रंथों में विस्तृत रूप से मिलता है। स्मृतिग्रन्थों में मनुस्मृति की सर्वप्रमुखता स्वीकृत है। मनुस्मृति में भगवान् मनु के वचन निबद्ध हैं। इसमें पुरुषार्थ-चतुष्टय के निरूपण के साथ ही वर्णाश्रमधर्म इत्यादि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन मिलता है। वहां पर गृहस्थ

के नित्यप्रति के धर्माचरण का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसमें अतिथि सत्कार को गृहस्थ के परम धर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

भगवान् मनु का आदेश है, कि गृहस्थ घर पर आये अतिथि को पूज्य भाव से अपने यहां ठहरायें। अतिथि के लिए आसन तथा पादप्रक्षालन हेतु उदक सादर उपन्यस्त करते हुए मधुरवाणी पूर्वक हृदय से उनका स्वागत करें एवं इस प्रकार सत्कार करते हुए अपने मन की असीम प्रसन्नता व्यक्त करें। अतिथि का सम्मान करने से धन, आयु, यश और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम्। मनु. 3-106

अतिथि की सेवाचर्या के लिए गृहस्थ पति-पत्नी दोनों विनयभावपूर्वक सदैव तत्पर रहें। अतिथि यदि सायंकाल भी घर पर आ जाये, तो गृहस्थ पूर्ण सम्मान- सहित उनके भोजनादिक की उचित व्यवस्था करें। भगवान् मनु का आदेश है, कि गृहस्थजन अपने घर आये अतिथि को भेदभाव से परे रहते हुए भोजन करायें। अतिथि की सेवा में जो भी उत्तम पदार्थ वह भोजन के समय प्रस्तुत करें, उसका उपभोग वह अतिथि-भोजन के पश्चात् ही स्वयं करें, उसके पूर्व नहीं। धर्मशास्त्रों/ स्मृतिग्रंथों में अतिथि-भोजन के पूर्व गृहस्थ के द्वारा स्वयं भोजन करने को अत्यन्त निन्दनीय कृत्य माना गया है। अतः गृहस्थजनों का कर्त्तव्य है कि वे देवादिसेवा एवं अतिथि-भोजन के पश्चात् ही शिष्टान्न/ अमृतान्न को स्वयं ग्रहण करें। भगवान् मनु का वचन है कि इसके विपरीत जो आचरण करता है और देवतादि को अर्पित न करते हुए स्वयं अपने लिए भोजन-पचन करता है, वह नीच कर्म से लिप्त होता है।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। वही 3-118

भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार की यह महनीय परम्परा अपने आपमें बेजोड़ है। हमारे धर्मशास्त्रों/ स्मृतिग्रंथों में इसका पर्याप्त विवेचन मिलता है। यह परम्परा भारत देश में अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अतिथि-सत्कार की प्रतिष्ठा तो वेदों में भी वर्णित है। वैदिककाल में यह विशेषता रही है कि प्रतिदिन गृहस्थ का घर किसी न किसी अतिथि के पदार्पण से पवित्र होता ही था। इस प्रकार गृहस्थ को प्रतिदिन अतिथि-यज्ञ का सौभाग्य प्राप्त होता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि, जो मनुष्य एकाकी भोजन करता है, वह पातककर्म से लिप्त होता

है। "केवलाघो भवति केवालादी।" (ऋ. 10-117-6)। ऋग्वेद की इस उक्ति में भी अतिथि सत्कार का महत्व रेखांकित मिलता है।

उपनिषदों में अतिथि को देवता के समान मानकर उनका भरपूर आदर और सम्मान करने की सीख दी गई है। "अतिथिदेवो भव" - में यही भावना परिलक्षित होती है। कठोपनिषद् में अतिथिधर्म के निर्वाह का अति सुन्दर चित्रण मिलता है। वाजश्रवापुत्र नचिकेता, जब धर्मराज यम के स्थान पर पहुंचे, तो वहां तीन दिनों तक उन्हें यमराज की प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस बीच उन्होंने यम के यहां कुछ भी आतिथ्य स्वीकार नहीं किया। अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया और यमराज के आगमन की प्रतीक्षा में वहीं द्वार पर पड़े रहे। तीन दिन के उपरान्त जब यम घर पर आये तो उन्हें अतिथि के आने का समाचार प्राप्त हुआ। उन्होंने शीघ्र अतिथि नचिकेता का सत्कार सम्पादित किया। उन्हें प्रणाम किया और तीन रात्रि तक बिना भोजन किये उनके स्थान पर रहने के लिए तज्जन्य-दोष-शमनार्थ तीन वर प्रदान किये। यम जानते थे कि, जिसके घर अतिथि बिना भोजन किये रह जाता है उसका बड़ा अनिष्ट होता है।

आशाप्रतीक्षे संगतँ सूनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥

कठो. 1-1-8

इस प्रकार यम ने अतिथि ब्राह्मणबालक नचिकेता का परितोष प्राप्त किया। इस उत्कृष्ट अतिथिसत्कार के सुफल-स्वरूप यम-नचिकेता वार्ता के ब्याज से संसार को आत्मविद्यारूप वह गुह्यतम तत्त्व प्राप्त हुआ, जिसे जानकर जीव अविद्या से छुटकारा पाता है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पा लेता है। इस प्रकार अतिथि-सत्कार की प्रतिष्ठा से परोक्षरूप से लोक में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हुआ।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास अतिथि-सत्कार के सुवर्ण पृष्ठों से भरा पड़ा है। वाल्मीकि रामायण में सिद्धा तापसी शबरी के द्वारा भगवान् राम का अतिथि-सत्कार किये जाने का जो वर्णन मिलता है, वह अपने आप में अतिशय मनोरम एवं अद्वितीय है। निखिल प्रसंग में सिद्धा शबरी का सरल, निर्मल एवं निश्छल निष्ठाभाव अभिव्यक्त होता है। तापसी शबरी को धर्मज्ञ महर्षियों ने पूर्व में आशीर्वाद दिया था, कि भगवान् राम अनुज लक्ष्मण सहित उनके आश्रम में पदार्पण करेंगे और

उनका आतिथ्य स्वीकार करेंगे। महर्षियों ने यह भी कहा था कि भगवान् राम का दर्शन प्राप्त कर शबरी अक्षय लोक को प्राप्त होगी।

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्।।
स ते प्रतिगृहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः।
तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि।

वाल्मीकि. अरण्य. 74-15, 16

महर्षियों के वचनों का सम्मान करते हुए वे दीर्घकाल तक अपनी कुटिया में प्रभु के आगमन की निरन्तर आस लगाये बैठी रहीं। जब भगवान राम अनुज लक्ष्मण सहित आश्रम में पधारे, तब दोनों भाइयों के चरणों में उन्होंने प्रणाम किया। अर्घ्य और आचमनीय आदि सामग्री समर्पित की तथा धर्मविधि से उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् तापसी शबरी ने, भगवान् राम एवं अनुज लक्ष्मण के लिए, पम्पातट पर उत्पन्न विविध प्रकार के फल मूल प्रस्तुत किये। भगवान ने उन्हें अति प्रेमपूर्वक स्वीकार किया। श्रमणा शबरी के द्वारा भगवान् श्रीराम का जो सहज आत्मीय आतिथ्यसत्कार किया गया, उसका निखिल वाङ्मय में दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। अतिथिसत्कार का जो निश्छल रूप यहां प्रस्तुत हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें श्रमणा शबरी के भक्तिपूर्ण हृदय का पवित्र एवं सरलतमभाव प्रकट होता है। महज औपचारिकता एवं दिखावटीपन से कोसों दूर। भगवान् तो सेवा में आतिथेय का सहज प्रेम, उसके हदय का निश्छलभाव देखते हैं, फिर चाहे वह उन्हें फल-मूल रखे अथवा छप्पन भोग। भगवान् राम तो मन की पवित्रता देखते हैं, व्यंजनों की सम्पन्नता नहीं। क्या परोसा गया, यह गौण है। किस भाव से परोसा गया, यह महत्वपूर्ण है। यदि ऐसा नहीं होता, तो भगवान श्रीकृष्ण, दुर्योधन के मधुर व्यंजनों को क्यों छोड़ते और महात्मा विदुर के यहां शाक-भोजन क्यों स्वीकार करते? भारतीय संस्कृति में अतिथिसत्कार के लिए हृदय की पवित्रता अपरिहार्य तत्त्व है। यहां बाहरी दिखावे के लिए कोई स्थान नहीं।

अतिथिसत्कार का एक दूसरा रूप भी हमें महाभारत में देखने मिलता है। महाराज युधिष्ठिर के राज्यसूय यज्ञ में आये अतिथिजनों के स्वागत एवं भोजनादि की व्यवस्था का उत्तरदायित्व अन्य मेजबान जनों ने अपने ऊपर ले लिया। किन्तु

द्विज-अतिथियों के चरण-प्रक्षालन का कार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने लिए लिया। इस प्रकार भगवान् वासुदेव ने अतिथिसत्कार का उच्चतम आदर्श लोक के समक्ष प्रस्तुत किया। अतिथिसत्कार में हमारी उदात्तवृत्तियों का विकास होता है और हमारा अहं विगलित होता है।

अतिथिसत्कार की उदात्त परम्परा भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण अभिन्न अंग रही है। यहां तो अतिथिसत्काररूप धर्म का पालन कर लोग अपने को धन्य मानते थे। अपना परम सौभाग्य समझते थे। काल के प्रवाह में देश की इस उदात्त परम्परा का ह्रास हुआ। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से देश की मूल संस्कृति प्रदूषित हुई और एक अपसंस्कृति का उदय हुआ। किन्तु फिर भी आशा का संचार शेष है। धरा पर धर्म अभी भी अवस्थित है। अभी भी भारत देश में ऐसे अगणित धर्मप्राण परिवार विद्यमान हैं जहां धर्मशास्त्रों/ स्मृति ग्रंथों के वचन ही उनके जीवन-नियामक हैं और जहां आज भी अतिथिसत्कार की पवित्रतम गौरवमयी परम्परा अविच्छिन्न एवं अक्षुण्ण है। ❑

मातृदेवो भव।
पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव।
अतिथिदेवो भव।

– तैत्तिरीयोपनिषद्

कालिदास की दृष्टि में शिक्षा

महाकवि कालिदास अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। उनकी कृतियों में अनेक विषयों की चर्चा मिलती है। अपने देश की तत्कालीन संस्कृति का चित्रण उनकी रचनाओं में स्पष्ट अंकित मिलता है। अपनी कृतियों के माध्यम से महाकवि ने अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी रचनाओं में उन्होंने धर्म-दर्शन-कला- शिक्षा संबंधी अपने विचारों को रखा है।

शिक्षा के संबंध में उनके बड़े खुले विचार हैं। शिक्षा का उद्देश्य क्या हो? शिक्षक का व्यक्तित्व कैसा हो? शिक्षक और छात्रों के संबंधों का स्वरूप कैसा हो? शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासन की अपरिहार्यता है या नहीं? शिक्षा के प्रति शासन की नीति क्या हो? लोक का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण किस प्रकार का हो? शिक्षा में परीक्षा का क्या स्थान हो? परीक्षा और उपाधि (डिग्री) का क्या संबंध हो? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हमें कालिदास की कृतियों में मिलता है।

महाकवि ने किसी शिक्षण-संस्था में अध्ययन भले ही न किया हो, किन्तु शिक्षा के संबंध में जो अपने विचार उन्होंने रखे हैं, उनसे उनकी इस राष्ट्रीय समस्या के प्रति पूर्ण सजगता का संकेत मिलता है।

शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए महाकवि कहते हैं कि कोरे पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त कर लेना अपने में कोई अर्थ नहीं रखता। विद्या-अर्जन के पश्चात् सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है।

विद्यामम्यसनेन .... रघुवंश 1-88

हमारे अर्जित ज्ञान की लोक में सार्थकता तभी है, जब वह व्यवहार में भी उतना ही खरा उतरे। एक अच्छे शिक्षक के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए महाकवि ने कहा है कि श्रेष्ठ शिक्षक वही है, जिसकी अपनी विषय में गहरी पैठ हो। उसका अपने विषय पर तो पूर्ण अधिकार होना ही चाहिए, अध्यापनक्षमता भी उसकी उत्कृष्ट कोटि की होनी चाहिए ताकि छात्रों को उसके श्रेष्ठज्ञान का लाभ मिल सके।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था,

संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां,

धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥ मालविका. 1-16

कालिदास की दृष्टि में अच्छे अध्यापक को शास्त्रज्ञान में निष्णात तो होना ही चाहिए, अध्यापन-कौशल भी उसमें उच्चकोटि का होना चाहिए। यही बात कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में कही है ।

सुसिक्खिदो वि सव्वो,

उवदेसदंसणेण णिण्हादो होदि।

(सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति।)

(मालविका. चौखम्बा प्रका. 1965 पृ. 46)

ऐसा अध्यापक ही समाज में अपना स्थान बना पाता है। महाकवि ने ऐसे अध्यापक को ही "सुतीर्थ" की संज्ञा दी है। किन्तु अध्यापक यदि अपने उत्तरदायित्व का सही निर्वाह नहीं करता, तो कालिदास की लेखनी उसे क्षमा भी नहीं करती। मालविकाग्निमित्र में ऐसे शिक्षकों के संबंध में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि जिसका शास्त्रज्ञान केवल जीविकानिर्वाह के लिए है, वह तो ज्ञान को बेचने वाला वणिक् है।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।। वही.1-17

कालिदास की मान्यता है कि उत्तम पात्र को दी गई शिक्षा अवश्य उत्कर्ष प्रकट करती है।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। वही. 1-6

किन्तु उत्तम पात्र का चयन भी उत्तम अध्यापक ही कर सकता है। राग-द्वेष से लिप्त अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अध्यापक इस कार्य को करने में असफल रहेगा और वह उसकी अयोग्यता का सूचक होगा।

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति। वही. पृ. 42

यदि सही शिष्य को सही अध्यापक के द्वारा शिक्षा प्रदान की गई है, तो कोई कारण नहीं है कि उसका परिणाम भी सही न निकले।

अध्यापक एवं छात्रों के बीच के संबंध की चर्चा करते हुए कालिदास ने कहा है कि शिक्षण-अवधि में आचार्य छात्रों के लिए अध्यापक भी है और अभिभावक भी। छात्र के सर्वांगीण कल्याण को दृष्टि में रखते हुए वह उसे विद्या प्रदान करता है। आश्रम में सभी छात्र समान होते हैं। सभी को आचार्य से समान व्यवहार और एक सा स्नेह मिलता है, चाहे वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश हों अथवा वरतन्तु के आश्रम में कौत्स। गुरु के यहां छात्र को पुत्रवत् प्रेम मिलता है। छात्र के व्यक्तित्व का आश्रम में सम्यग् विकास होता है। आचार्य को इसीलिए शिष्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है।

पहवदि आआरिओ सिस्सजणस्स।

(प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य)। वही पृ. 47

ताकि अपने छात्र के व्यक्तित्व को वह सही रूप में सँवार सकें। अतः यह स्वाभाविक है, कि छात्रों से भी आचार्य को अटूट सम्मान प्राप्त हो। कालिदास की कृतियों में यह मान्यता स्थापित मिलती है। इससे संकेत मिलता है कि कालिदास के युग में अध्यापकों और छात्रों के बीच के संबंध अपेक्षा के अनुरूप प्रियकर थे।

कालिदास की रचनाओं में इस तथ्य के भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं, कि शिक्षण-संस्थाओं में अनुशासन संबंधी कोई समस्या नहीं थी। इसके विपरीत आश्रमों में अनुशासन का पालन कड़ाई से होता था। वहां सबसे अपेक्षित था, कि अनुशासन के नियमों का सभी लोग समान रूप से पालन करें। इसके लिए कोई अपवादरूप नहीं था। आश्रम के प्रधान के आदेश का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था। फिर चाहे वह राजपुत्र ही क्यों न हो? यदि कोई राजकुमार आश्रम के नियमों का उल्लंघन करता, तो उसे भी क्षमा नहीं किया जाता था। उसे भी दण्डित होना पड़ता था। महर्षि च्यवन के आश्रम में महाराज पुरूरवा के पुत्र कुमार आयु के आश्रमविरुद्ध आचरण करने पर-आश्रम में एक पक्षी को बाण से मारने पर-उसे आश्रम से तत्काल निष्काषित कर दिया गया था। शासन भी आश्रम के नियमों का पूर्ण सम्मान करता था। कालिदास की कृतियों में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता, जहां आश्रम के नियमों को शिथिल करने के लिए शासन के द्वारा अपने प्रभाव का उपयोग किया गया हो। स्पष्ट है कि आश्रम के कुलपति अपने कार्यक्षेत्र में छात्रों के हित में यथोचित निर्णय लेने के लिए पूर्ण सक्षम एवं स्वतंत्र थे। शिक्षा के क्षेत्र में

नीति-विषयक निर्णय लेने का अधिकार किसी वशिष्ठ अथवा वरतन्तु, कण्व अथवा च्यवन का ही होता था। शासन इस क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था।

उस युग में शासन की तरह प्रजावर्ग भी आश्रमों अथवा शिक्षासंस्थाओं को आदरपूर्ण दृष्टि से देखता था। कुलपति का पद सर्वत्र सम्मानित था। आश्रम की मर्यादा के परिपालन में सबका पूर्ण विश्वास था। उच्चवर्ग और सामान्यवर्ग सभी अपने पुत्रों को आश्रम में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजते थे। महर्षि कण्व के आश्रम में शार्ङ्गरव और शारद्वत समाज के सामान्य तपके से आने वाले छात्र प्रतीत होते हैं। रघुवंश में वरतन्तु का शिष्य कौत्स भी सामान्य तपके से आनें वाला छात्र है। इन छात्रों के विवरण से ज्ञात होता है कि इस वर्ग के छात्र भी पूर्ण निष्ठा से श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करते थे एवं अपने आचार्य का आशीर्वाद और स्नेह प्राप्त करते थे। ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता जहां इस वर्ग के छात्रों ने आश्रम के अनुशासन का उल्लघंन करने का कभी प्रयास किया हो। अभिभावकों के संबंध में अन्यथा कल्पना करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

शिक्षापद्धति के समान परीक्षा के संबंध में भी कालिदास के स्पष्ट विचार हैं। सही शिक्षा परीक्षित होने पर उसी प्रकार खरी उतरती है, जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ सोना। सोना कभी मलिनता को प्राप्त नहीं होता।

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु।। वही 2-9

परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर न केवल शिष्य की प्रशंसा होती है, अपितु अपने उपदेष्टा को भी वह गौरव प्राप्त कराता है। मालविकाग्निमित्र नाटक में आयोजित नृत्यस्पर्धा में मालविका के उत्कृष्ट नृत्यप्रदर्शन के लिए देवी धारिणी ने नृत्याचार्य गणदास की प्रशंसा की थी।

कालिदास की मान्यता रही है कि प्राप्त किये हुए ज्ञान की परीक्षा के लिए कोई निश्चित समय नहीं रहता। शिष्य को अपने ज्ञान की परीक्षा देने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। उसकी परीक्षा कहीं भी ली जा सकती है और किसी भी समय ली जा सकती है। यदि छात्र को सही मार्गदर्शन मिला है और यदि उसने अपने आचार्य के बतलाये मार्ग पर चलते हुए शिक्षा ग्रहण की है, तो कोई कारण नहीं कि

किसी भी समय परीक्षा देने में उसे कोई हिचक हो। छात्र को अपने आचार्य की योग्यता पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए और अपने ऊपर आत्मविश्वास। ऐसा छात्र अवसर आने पर सदा सफल रहता है। महर्षि बाल्मीकि से विद्या प्राप्त कर बालक लव-कुश ने अपने मौखिक रामायणपाठ से अयोध्या में सारी राजसभा को मन्त्रमुग्धं कर दिया था।

कालिदास ने आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या के प्रमाण स्वरूप किसी उपाधि अथवा प्रमाण-पत्र को कभी आवश्यक नहीं ठहराया। उनकी स्पष्ट मान्यता रही है, कि यदि सम्यग् रूप से प्रदत्त विद्या सम्यग् रूप से ग्रहण की गई है, तो वह फलवती अवश्य होगी। इस ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए उपाधि नाम वाले किसी पत्रक विशेष को उन्होंने आवश्यक नहीं माना। यदि आचार्य को विश्वास हो जाता है कि छात्र ने पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली है, तो छात्र को प्रसन्नतापूर्वक प्रदान किया गया उनका आशीर्वाद ही अपने आप में सबसे बड़ी उपाधि होता था। फिर तो शिष्य कहीं भी जाकर अपने योग्यता के आधार पर अपना स्थान बना लेता था। रघुवंश में आचार्य वरतन्तु ने अपने शिष्य कौत्स के विद्याध्ययन के प्रति अपना पूर्ण संतोष व्यक्त किया था। छात्र कौत्स के लिए गुरुप्रतोष ही सर्वोच्च उपाधि थी।

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥ रघु. 5-20

कालिदास ने योग्यता का मापदण्ड गुरु से प्राप्त ज्ञान को माना है न कि किसी उपाधि पत्रक को। उस युग में छात्रों के बीच स्पर्धा, ज्ञानप्राप्ति के लिए होती थी। उपाधिप्राप्ति के लिए नहीं। यही कारण है, कि कोई भी योग्य छात्र अपनी उपाधि लेकर काम के लिए यत्र-तत्र भटकता हुआ कालिदास के साहित्य में नहीं मिलता।

इस प्रकार महाकवि ने अपनी कृतियों में शिक्षासंबंधी कतिपय ज्वलन्त प्रश्नों को उठाया है और उन प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान भी रखा है। महाकवि कालिदास एक महान् दूरद्रष्टा थे। महाकवि की और उनके विचारों की आज भी प्रासंगिकता है। आज के संदर्भ में भी उनकी अवधारणाएँ मननीय एवं विचारणीय हैं। ❑

बाणभट्ट का राष्ट्रीय चिन्तन

सरस्वती के यशस्वी पुत्र महाकवि बाणभट्ट का संस्कृत साहित्य में गद्यकार के रूप में अपना अप्रतिम स्थान है। बाणभट्ट अद्वितीय प्रतिभा के धनी रहे हैं। महाकवि की मात्र दो गद्यकृतियां हैं- हर्षचरित और कादम्बरी। इन्हीं कृतियों में संस्कृत साहित्य के गद्य का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है और इन्हीं कृतियों से महाकवि का यश अक्षुण्ण है।

हर्षचरित बाणभट्ट की प्रथम गद्य रचना है। आठ उच्छ्वासों की इस कृति में प्रथम तीन उच्छ्वास कवि के आत्मवृत्त के लिए समर्पित हैं और शेष पांच में सम्राट् हर्षवर्धन के जीवनचरित का वर्णन है। ऐतिहासिक विषय पर गद्यकाव्य लिखने का संस्कृत साहित्य में प्रथम उपक्रम महाकवि बाणभट्ट का ही है। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य में उनका विशिष्ट महत्व है।

इनकी द्वितीय कृति कादम्बरी संस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट गद्य रचना है। इसमें विदिशा के राजा शूद्रक और उज्जयिनीनरेश तारापीड का वर्णन है। कादम्बरी की सारी कथा कुतूहलमय है। कादम्बरी के प्रणयन में कवि ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा, कल्पना-वैभव और मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। उनकी कृतियों में साहित्यिक उत्कर्ष के साथ देश के सांस्कृतिक परिवेश के भी दर्शन होते हैं। कृतियों में देश की प्राकृतिक सुषमा, कला, धर्म, दर्शन, राजनीति तथा आचार-विचार सभी प्रतिबिम्बित हुए हैं। कवि ने प्रासाद, नगरी, अटवी, सरोवर और आश्रम-सभी का समान रूप से सजीव वर्णन किया है। कहीं विन्ध्य की विकट अटवी का रोमांचकारी दृश्य है और कहीं अच्छोदसर का हृदयावर्जक चित्रण है, तो कहीं जाबालिमुनि के शान्त और पावन आश्रम की सात्विक शोभा का चित्र है।

बाणभट्ट का प्रकृतिचित्रण अन्तःप्रकृति के अनुरूप होता है। ऋतुओं का चित्रण कवि ने बड़ी मार्मिकता से किया है। प्रभात का, सूर्यास्त का, संध्या का, अन्धकार का और चन्द्रमा के उदय का-प्रकृति के इन नाना दृश्यों का वर्णन अत्यन्त यथार्थता के साथ किया गया है। महर्षि जाबालि के परम पावन आश्रम में सूर्यास्त का वर्णन शान्त और पवित्र भावों का परिचायक है जो मुनि के शान्त स्वभाव से तादात्म्य लिए हुए हैं। बाण ने महर्षि जाबालि को धर्म की साक्षात् मूर्ति और दया के

परम अवतार के रूप में निरूपित किया है। यह जाबालि मुनि के आश्रम का ही प्रभाव है कि आश्रम में निवास करने वाले वृद्ध और अन्धे तापसों को वहां के वानर छड़ी के सहारे सावधानीपूर्वक उन्हें उनके स्थान से बाहर ले जाते हैं और भीतर ले आते हैं।

परिचितशाखामृगकराकृष्टयष्टिनिष्काश्यमानप्रवेश्यमानजरदन्धतापसम्।

कवि का यह वर्णन बतलाता है कि उनका प्रकृति के प्रति अटूट अपनापन था। जहां भी उन्हें अवसर मिला, उन्होंने प्रकृति को इसी प्रकार अपनी तूलिका में समेट लिया।

बाणभट्ट के जीवन का अनुभव विशाल और यथार्थ था। उन्होंने देश का विपुल भ्रमण किया था। उनको देश की हवा, मिट्टी और पानी से प्यार था। उन पर उन्हें गर्व था। उन्होंने अपनी लेखनी से यहां के पेड़ों, पौधों, लताओं और फूलों का हृदय खोलकर वर्णन किया है। यही है बाण का राष्ट्रीय चिन्तन। राष्ट्रचिन्तन केवल किसी राजा अथवा प्रधानाभात्य के अधिकार क्षेत्र का विषय नहीं है। इस चिन्तन में मात्र दण्डकार्य, युद्धकार्य अथवा निर्वाचनकार्य समाहित नहीं है, प्रत्युत देश के प्रति अपनापन और देशवासियों का कल्याण, उनका चरित्र-निर्माण और उनके सर्वांगीण विकास के प्रति प्रतिबद्धता राष्ट्रीय चिन्तन का लक्ष्य होता है और इस दिशा में चिन्तन का अधिकार देश और समाज के प्रत्येक जागरूक एवं संवेदनशील व्यक्ति का है। बाणभट्ट का चिन्तन इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। इसी चिन्तन की पृष्ठभूमि में कवि के द्वारा उनके प्रमुख पात्रों का सर्जन हुआ है। उन्नत चरित्र की सृष्टि तथा उदात्त जीवन और सौजन्यपूर्ण व्यवहार- देश के इन शाश्वत मूल्यों की अभिव्यक्ति में बाणभट्ट भारतीय साहित्य में बेजोड़ हैं। अपराजेय राजाधिराज प्रभाकरवर्धन, तेजस्वी और समर्पित स्वामिभक्त सेनापति सिंहनाद, आज्ञापालक पुत्र स्नेहशील अग्रज और पराक्रमी योद्धा राज्यवर्धन तथा निर्भीक साहसी और कर्त्तव्यपरायण वीर कुमार हर्षवर्धन, तेजस्विता त्याग और कारुण्य की मूर्ति महाराज्ञी यशोवती तथा सौन्दर्य और दया की प्रतिमूर्ति राजतनया राज्यश्री-ये सब जीवन्तपात्र बाण ने हर्षचरित में तूलिकाबद्ध किये हैं।

हर्षचरित सातवीं शताब्दी के भारत का अत्यन्त उज्ज्वल एवं यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत करता है। उस युग की सांस्कृतिक समृद्धि का यह प्रामाणिक

अभिलेख है।

कादम्बरी में प्रजावत्सल और शूरवीर राजा शूद्रक, सौम्य तपस्वी हारीत, त्याग-तपोनिधि प्रज्ञानवृद्ध महर्षि जाबालि, दयावतार पृथ्वीपति तारापीड, शास्त्रनिष्णात अमात्य शुकनास, चारित्र्यधना तपस्विनी महाश्वेता तथा विनय की मूर्ति और अलौकिक सुषमा की सम्पत्ति कादम्बरी- बाणभट्ट के ये सब पात्र अपना-अपना चरित्रगत अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। कादम्बरी और हर्षचरित के ये पात्र, सांस्कृतिक सृष्टि के मूलाधार हैं।

देश की युवापीढ़ी के प्रति भी महाकवि की संवेदनशीलता उनकी कादम्बरी में स्पष्ट रूप से अंकित हुई है। कादम्बरी में अमात्य शुकनास के द्वारा राजपुत्र चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों के वर्णन में नीति और आचार दोनों का सही रूप प्रस्तुत किया गया है।

न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते,
न कुलक्रममनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति,
न श्रुतमाकर्णयति, न धर्म्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते,
न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति, न सत्यमवबुध्यते,
न लक्षणं प्रमाणीकरोति, गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एवं नश्यति।

यहां महाकवि के विचार बड़े उदार और उदात्त हैं। लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होने वाले अनेक दोषों का इतना सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवेचन कवि की अनुभव भरी दूरदृष्टि का ही फल है। बाणभट्ट का यह अनुभव समय की कसौटी पर खरा उतरा है। आज भी यह उतना ही सही है। शुकनास के द्वारा कुमार चन्द्रापीड को दिये गये उपदेश में आज की नई पीढ़ी की अनेक समस्याओं का हल मिलता है। "यौवने कुमार! तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक् क्रियसे गुरुभिः, नोपलभ्यसे सुहृद्भिः न शोच्यसे विद्वद्भिः।"

प्रेम के संबंध में भी महाकवि के बड़े खुले विचार हैं। वे मर्यादाविहीन प्रेम का समर्थन नहीं करते। कादम्बरी में कवि ने दिखलाया है, कि असंयत प्रेम कभी सुखदायी नहीं होता। वह मानसिक दुरवस्था का परिणाम होता है। महाश्वेता के प्रेम में पागल पुण्डरीक की उसके मित्र कपिंजल द्वारा भर्त्सना इसी का निदर्शन है। बाण की मान्यता है, कि प्रेम एक जन्म के भौतिक संबंधों का परिणमन नहीं है, प्रत्युत

वह तो जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक संबंध का परिचायक है। कादम्बरी के प्रणय में महाकवि ने दिखलाया है कि सच्चा प्रेम कभी भी कुल और मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।

इस प्रकार महाकवि बाण का राष्ट्रीय चिन्तन के क्षेत्र में अपना मौलिक योगदान है। देश की नई पीढ़ी के लिए उन्होंने संदेश दिया है। आज की युवा पीढ़ी की समस्याओं के लिए अपने अनुसार उन्होंने समाधान भी सुझाया है। मर्यादाविहीन प्रेम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनर्थकारी होता है, इसका संकेत कादम्बरी में उन्होंने दिया है। महाकवि बाण एक महान् दूरद्रष्टा थे। ❑

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे,
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

- कादम्बरी

भगवान् श्रीकृष्ण और योग

भारतीय वाङ्मय में वासुदेव कृष्ण का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। वे वसुदेव-देवकी के जीवन-सर्वस्व हैं। नन्द-यशोदा के प्राणाधार हैं। गोप समाज के परम सखा हैं और गोपिकाओं के प्यारे मोहन हैं। आचार्य संदीपनि के गौरववान् शिष्य हैं तथा मित्र सुदामा के सुख-दुख के साथी हैं। कंसादि राक्षसों के संहारक हैं, ब्रजभूमि के उद्धारक हैं और इन्द्र के मदविदारक हैं। स्वस्थ समाजवाद के सच्चे प्रणेता के रूप में गोप समाज के निःस्वार्थ पथप्रदर्शक हैं। कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में पाण्डवों का मार्गदर्शन करते हुए महाभारत युद्ध में सखा अर्जुन के रथ के सारथी हैं। सबसे ऊपर हैं वे दूरद्रष्टा, युगपुरुष, जिनकी वाणी में क्रांति का स्वर सुनाई देता है। वे एक महान् क्रान्तदर्शी विचारक हैं। कृष्ण धर्मसंस्थापना के व्रती योगिराज युगप्रवर्तक अवतार हैं।

महाभारत युद्ध के बीच कृष्ण न केवल अर्जुन के सारथी हैं, प्रत्युत वहाँ अर्जुन के मोहग्रस्त भटक रहे मन के नियन्ता भी हैं। युद्ध के प्रारंभ में ही शत्रु-पक्ष की ओर से अपने सामने स्वजनों को खड़ा देखकर अर्जुन के मन की जो स्थिति बनती है, वह अत्यन्त दयनीय है। उनके अंग शिथिल होने लगते हैं। मुख सूखने लगता है। शरीर काँपने लगता है और उसमें रोमांच हो उठा है। उनका गाण्डीव हाथ से गिरने लगता है। शरीर जलने लगता है। वे खड़े नहीं रह पाते और उनका मन भ्रमित सा होने लगता है।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। गीता-1-29, 30

इस विषम एवं दयनीय स्थिति को प्राप्त हुये अर्जुन को श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध के बीच जिस कुशलता से उबारा है, वह अपने आप में बेजोड़ है। युद्ध के मध्य अर्जुन को कृष्ण के द्वारा दिया गया उद्‌बोधन भारतीय वाङ्मय का अजर-अमर सांस्कृतिक अभिलेख है, जो भगवद्‌गीता के नाम से भारत ही क्या

भारत के बाहर भी अनेक देशों में घर-घर में धार्मिक-नैतिक धरोहर के रूप में सुरक्षित है।

अर्जुन को समझाते हुए कृष्ण उनकी सारी शंकाओं का निराकरण करते हैं और तटस्थ एवं निष्पक्ष भाव से अपने मन को केन्द्रित करते हुए युद्ध करने की उन्हें प्रेरणा देते हैं। कृष्ण इसी को 'योग' कहते हैं। उनकी योगविषयक परिकल्पना अत्यन्त सरल और सुलझी हुई है। वे सुन्दर रूप से निष्पादित कर्म को ही योग कहते हैं।

"योगः कर्मसु कौशलम्"।

सुन्दर रूप से कर्म को निष्पादित करने के लिये निश्चित रूप से मन की एकाग्रता और चित्तवृत्तियों का निरोध अपरिहार्य है। किसी कार्य को अच्छी तरह से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि अपना मन अन्यत्र कहीं भटकना नहीं चाहिए। अन्यथा कार्य सही ढंग से निष्पादित नहीं हो सकता। चित्त की एकाग्रता के साथ यह भी आवश्यक है कि हमारा मन उस अवस्था में सब प्रकार से अनासक्त रहे। हमें केवल अपने कार्य को उत्तम रूप से सम्पादित करना है। यदि अपने कार्य-सम्पादन की स्थिति में राग अथवा द्वेष हमें अपनी ओर खींच ले गये तो हमारा कार्य भी सही ढंग से निष्पन्न नहीं हो सकता। इसी को कृष्ण ने "समत्वयोग" कहा है। यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्य निष्पादित होने के पश्चात् भी फल के प्रति हमारी आसक्ति नहीं होना चाहिए। यही आचरण "अनासक्त" योग है।

आज विडम्बना यही है कि किसी भी स्तर पर हम आसक्ति से मुक्त नहीं है। राष्ट्र-सेवा परम धर्म माना गया है। किन्तु यहां भी हम आसक्ति से ग्रस्त हैं। पदलोलुपता और अधिकार-बुभुक्षा ने हमें मानसिक रूप से जर्जर बना दिया है। हमारे नैतिक स्तर में पर्याप्त गिरावट आ गई है। स्वार्थ और पक्षपात के भंवर में हम गहरे फँस चुके हैं। हमारी संकीर्ण दृष्टि अपने और अपने भाई-भतीजे से परे जाती ही नहीं है। भाई-भतीजावाद का यह महारोग सारी वर्तमान व्यवस्था को बुरी तरह से जकड़े हुए है। सारा तन्त्र आज चरमरा रहा है और परिणाम भुगत रहा है सारा देश, सारा समाज। जो देश भाई-भतीजावाद से ग्रस्त है, उसका नैतिक पतन अवश्यंभावी है। उसे कदम-कदम पर अन्य देशों के सामने मुँह की खानी पड़ेगी। कोई भी देश उसकी जनसंख्या के आधार पर बड़ा या छोटा नहीं होता। बल्कि बड़ा

या छोटा होता है उसकी नैतिक पूँजी के आधार पर। कृष्ण के अनासक्तयोग का उद्घोष, मात्र तात्कालिक समस्या के समाधान हेतु नहीं था, वरन् वह तो सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सोच है जो व्यवहार के धरातल पर भी सदा खरा है।

इस परिप्रेक्ष्य में भगवान कृष्ण की योग-विषयक परिकल्पना अत्यन्त मौलिक एवं सर्वथा नवीन है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास में सबसे पहिली बार कृष्ण ने ही योग को व्यावहारिक धरातल प्रदान किया। उन्होंने योग के पारम्परिक स्वरूप से हटकर अनासक्त तथा समत्व भाव से युक्त कर्मसम्पादन को ही योग के रूप में स्थापित किया। इस प्रकार प्रथम बार योग की कर्मप्रधान व्याख्या प्रस्तुत हुई। उसे पहाड़ की चोटियों और कन्दराओं से निकालकर, उसके दुरूह पक्ष को दूर रखते हुए उसे सामान्य जन तक पहुंचाया। योग के क्षेत्र में वास्तव में यह एक क्रांतिकारी कदम था। इस देश के सांस्कृतिक जागरण के क्षेत्र में कृष्ण का यह अवदान निश्चित रूप से अद्वितीय है।

वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द ने भी योग के उसी पक्ष को अपनाया है, जो राष्ट्र के उत्थान से सीधा जुड़ा हुआ हो और जो राष्ट्र को बलवान् बना सके। उनकी दृष्टि में देश को उस योगी की आवश्यकता नहीं है, जो जंगल में एकान्त में बैठा हुआ अपनी आंख-नाक बंद कर साधना कर रहा है, किन्तु देश की उन्नति में अपना कोई योगदान नहीं कर सकता अथवा गिरते हुए समाज को ऊपर नहीं उठा सकता। ऐसी योगसाधना से देश को क्या लाभ? उनकी दृष्टि में सही योगी वह है, जो अपने देश की बिखरी हुई शक्ति को संजो सके, ताकि देश को विभिन्न बंधनों से मुक्त किया जा सके और देश वास्तविक उन्नति कर सके। स्वामी जी के पास आकर यदि कोई युवक संन्यास लेने की बात कहता, तो वे उसे हॉकी के मैदान में जाकर हॉकी खेलने और स्वस्थ बनने का उपदेश देते थे। वे देश के हर नवयुवक को स्वस्थ एवं शक्तिशाली देखना चाहते थे। उन्होंने देश को "उठो-जागो" का मंत्र दिया और देश को सोते से जगाया। इसी प्रकार लोकमान्य तिलक ने भी अपने "गीता रहस्य" में गीता की ऐसी ही कर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की और अपने कर्मवाद के शंख-निनाद से परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े देश में स्फूर्ति का संचार किया। इस देश के स्वातंत्र्यसमर के इतिहास में लोकमान्य तिलकजी का योगदान सदा स्मरणीय रहेगा।

वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने जिस

कर्मवाद का उद्घोष किया, वही उद्घोष-कार्य कई हजार वर्ष पूर्व कृष्ण ने महाभारत युद्ध के बीच करके नवचेतना का संचार किया था।

भगवान् कृष्ण के द्वारा योग की यह व्यावहारिक व्याख्या भारतीय संस्कृति को उनका अमूल्य अवदान है। चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय स्तर पर अथवा अन्तःराष्ट्रीय स्तर पर, किसी भी कार्य को यदि समत्वभाव से युक्त होकर और पक्षपात से ऊपर उठकर अनासक्तरूप से किया जायेगा, तो निश्चित ही उसके परिणाम अनुकूल एवं सुखद होंगे। आज के युग में कर्मयोगी कृष्ण के अनासक्त कर्मवाद की समस्त विश्व के लिए अपरिहार्य प्रासंगिकता है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ गीता-18-78

जिस देश को योगेश्वर कृष्ण का नेतृत्व प्राप्त हो, जहाँ उनके मार्गदर्शन में देश के प्रति समर्पित समाज अर्जुन की भांति अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर राष्ट्र-कार्य में प्रवृत्त हो, वहाँ सदा विजयपताका लहराती रहे और श्री-समृद्धि की सतत अभिवृष्टि होती रहे, तो इसमें संशय किसको हो सकता है? ❑

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
- श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्च कन्याएँ

भारत देश विश्व में अपने उज्ज्वल आचरण के लिए सदा से जाना जाता रहा है। अपने देश को महानता के उच्च शिखर तक पहुँचाने के लिये यहाँ के तपस्वी ऋषि-मुनियों, निःस्पृह नृपों, कर्तव्यनिष्ठ राजपुत्रों, समर्पित अमात्यों, चारित्र्यधना सन्नारियों तथा तेजस्वी एवं त्यागी प्रजाजनों का सतत योगदान रहा है। इनका आचरण इतना पवित्र रहा है, कि आज भी सारा देश प्रातः काल उनका नामोच्चारण करके अपने को धन्य मानता है। रघुवंशशिरोमणि श्रीराम, दुष्यंतपुत्र भरत, सत्यधर्म हरिश्चन्द्र, भीष्मप्रतिज्ञ भीष्म, विष्णुभक्त प्रह्लाद, ध्रुवव्रत कुमार ध्रुव, धर्मराज युधिष्ठिर तथा पितृभक्त श्रवण आदि कुछ ऐसे ही नाम हैं। इसी प्रकार ऐसी ही कुछ श्रेष्ठ नारियाँ भी हैं, जिनका प्रातः काल पवित्र नामोच्चारण करना तथा सार्थक जीवन हेतु उनके आचरण से प्रेरणा ग्रहण करना यहाँ की सुदीर्घ काल से परम्परा रही हैं। इनमें पाँच श्रेष्ठ नारियों का प्रभूत उल्लेख आता है। इन्हें पंच कन्याओं के रूप में स्मरण किया गया है। इनका नामोल्लेख सदा विशेष आदर सहित किया जाता है। भारतीय संस्कृति में इनकी अपनी पहिचान है। पंचकन्याओं के रूप में इस देश की निम्नांकित पांच पुण्यलोक तेजस्वी नारियों का उल्लेख आता है :

अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी तथा।
पंचकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।। 1

'कन्या' पद का अर्थ केवल अल्पवय बालिका तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत इसका अर्थ तो वयस्क स्त्री के अर्थ में भी होता है। आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश में इस आशय का अर्थ मिलता है। ऊपर के पद्य में भी कन्या पद का प्रयोग वयस्क स्त्री के अर्थ में हुआ है। कन्यापद अवस्थागत अदोष शुचिता का अभिव्यंजक है, जो सामान्य 'स्त्री' शब्द अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिए यह सम्मानीय पद उन्हीं स्त्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो अपने जीवन में पवित्रता की प्रतिमूर्ति रही हैं, और जीवन में हर प्रकार के कष्टों को झेल कर भी जिन्होंने अपनी चारित्रिक दृढ़ता को अक्षुण्ण रखा। इस आधार पर संदर्भित पद्य का अर्थ होगा- 'अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मन्दोदरी-इन पाँच पुण्य नारियों का नित्य स्मरण

1. इस पद्य के पाठभेद में "सीता" के स्थान पर "कुन्ती" पद प्रयुक्त मिलता है।

महापातक का विनाशक है।' इन महिलाओं ने अपने जीवन का जो उच्चादर्श स्थापित किया, वह अनुपम एवं देश के लिए अनुकरणीय है। उनके नाम के नित्य स्मरण करने का अर्थ है, उनके अकलुष आचरण का स्मरण करना और उसे अपने जीवन में उतारने की प्रेरणा ग्रहण करना।

अहल्या : इन पाँच श्रेष्ठ नारियों में सर्वप्रथम नाम आता है, महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या का। अपने पतिव्रता-धर्म के निष्ठापूर्वक पालन के लिए वह विश्रुत रही है। गौतम ऋषि ही उसके जीवन के सर्वस्व थे। गौतम ऋषि और अहल्या के पारिवारिक सुखमय जीवन में विष घोला इन्द्र ने। इन्द्र को संसार में कभी भी किसी की कीर्ति सहन नहीं हुई। फिर अहल्या के पातिव्रत की ख्याति को वह कैसे सहन कर सकता था? अतः उसने ऋषि-पत्नी के व्रत में विघ्न डाला। अहल्या के स्थान पर वह उस समय पहुँचता है, जब ऋषि गौतम आश्रम में नहीं थे। एकान्त का लाभ लेकर इन्द्र ऋषि-पत्नी से छल करता है। अहल्या इन्द्र की माया का शिकार बनती है। उसका व्रत विनष्ट होता है। आश्रम लौटने पर गौतम ऋषि अन्तर्ज्ञान से सब कुछ जान लेते हैं। अहल्या और इन्द्र-दोनों उनके कोप का भाजन बनते हैं। ऋषि दोनों को शाप देते हैं। इन्द्र को सहस्त्रभग होने का और अहल्या को पाषाणरूप हो जाने का। इन्द्र तो आज भी शाप के व्रण-चिह्न झेल रहा है। किन्तु अहल्या को, जो कुछ घटित हुआ, उस पर अपार ग्लानि थी, पश्चात्ताप था। अतः शाप से अपनी मुक्ति हेतु धैर्यपूर्वक काल की उसने प्रतीक्षा की। सुयोग आया एवं एक दिन वन में भगवान् राम के चरण का स्पर्श पाकर अपनी पूर्व काया को उसने प्राप्त किया और समाज में पुनः प्रतिष्ठित हुई। ऋषि ने ही अहल्या की शापमुक्ति हेतु आगे का मार्ग प्रशस्त किया था। शाप का ताप, अनुताप के अश्रुओं में विगलित हुआ एवं अहल्या को परम प्रसाद की प्राप्ति हुई। अहल्या इन्द्र की धूर्तता/कपट का शिकार अवश्य बनी, किन्तु उसके मन में अपने पति को छोड़कर किसी के लिए कभी भी कोई स्थान नहीं रहा।

द्रौपदी- स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति द्रौपदी को कौरव तथा पाण्डवपक्ष के सभी ज्येष्ठ जनों के बीच सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। पाँचों पाण्डवों की पत्नी के रूप में पातिव्रत को जिस कुशलता से उसने निर्वाह किया, वह अपने आप में अद्वितीय है। कौरव तथा पाण्डव-दोनों पक्षों के वृद्धजनों का वह समान आदर करती थी। किन्तु अन्याय का प्रतिकार उसने सदा दृढ़तापूर्वक किया। जीवन में प्रायः संकटों से

ही उसका सामना हुआ। अपमान झेले। तिरस्कार सहे। किन्तु टूटी नहीं। अपने सतीत्व की रक्षा उसने हर स्थिति में की और दुराचारी का अन्त होने पर ही उसने चैन ली- फिर चाहे वह दुर्योधन हो अथवा दुःशासन, कीचक हो अथवा कर्ण। भारतीय वाङ्मय में द्रौपदी अपने स्वाभिमान और मनस्विता के लिए प्रख्यात है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सदा उसका अनन्य समर्पणभाव रहा है। उसी समर्पणभाव के सहारे द्रौपदी अपने जीवन की भीषणतम परीक्षा की घड़ी में खरी उतरी और अपने सतीत्व की रक्षा करने में सफल रही। परिस्थितियों से संघर्ष करना और उन पर विजय पाना-यह कोई द्रौपदी से सीखे। चरित्र और आत्मबल की धनी पाण्डवकुलवधू द्रौपदी की देश की सन्नारियों के बीच उच्च प्रतिष्ठा है। इसीलिए पंच नारीरत्नों में उसका स्थान है।

सीता- जनकतनया सीता के जीवन में प्रायः दुख ही दुख रहे। विवाह के पश्चात् पति के घर आते ही प्रारम्भ से ही उसका दुःखों से आमना-सामना हुआ। श्वसुर महाराजदशरथ का महाप्रयाण एवं स्वयं पति के साथ चौदह वर्षों की अवधि के लिए वनगमन। राजमहल के सुखों में पली सीता का वन-वन भटकना-यह विचारमात्र ही अपने आप में परम पीड़ादायक है। किन्तु सीता ने किसी भी स्थिति में श्रीराम का संग नहीं छोड़ा और 'सहगामिनी पद' को सार्थक बनाया। वन में राक्षसराज रावण के पापाशय का उसे शिकार बनना पड़ा। किन्तु अपहरण से लेकर लंकावास तक के काल में सीता में जिस चारित्रिक दृढ़ता का परिचय दिया, वह अपने आप में बेजोड़ है।

वनवास से लौटने पर राम, राज्य का भार सम्हालते हैं। किन्तु सीता लोकापवाद का शिकार बनती है और पुनः वन में निष्कासित होती है। अपने प्राणाधार राम की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सीता निष्कासन की महापीड़ा को शान्तभाव से सहन कर लेती है। प्रतिकार अथवा प्रतिरोध का एक शब्द नहीं। इसीलिए सच्चारित्र्य, पातिव्रत एवं सतीत्वरक्षा का आदर्श प्रस्तुत करने का जहाँ प्रसंग आता है, वहाँ सीता का नाम प्रथम पंक्ति में होता है। त्याग और बलिदान की प्रतीक सीता का जीवन निखिल वनिताविश्व के लिए आलोकपुंज है।

तारा- सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कीर्ति तो संसार में तब तक व्याप्त रहेगी, जब तक आकाश में सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं। अपने सत्यधर्म की रक्षा के लिए उन्होंने सर्वस्व त्यागा। धर्म के पालनहेतु पत्नी और पुत्र को बेचा और अन्त

में स्वयं श्मशानभूमि में चाण्डाल के हाथ बिके और उसकी चाकरी तक स्वीकार की। उनके इस व्रत में उनकी धर्मदारा तारा (तारामती/शैव्या) का योगदान भी कुछ कम नहीं रहा। अपने ही पति के द्वारा श्मशानभूमि में अपने मृत पुत्र के अन्तिम संस्कार के लिए उससे श्मशान का कर मांगा जाता है और श्मशान का कर चुकाने की स्थिति में न होने पर अपनी ही शाटिका का एक भाग उसे देने हेतु वह फाड़ने लगती है। बस, यही सत्य की परीक्षा की पराकाष्ठा थी। कर्त्तव्यपरायणता की सीमा थी। इस समस्त अभियान में राजा हरिश्चन्द्र और उनकी पत्नी तारा खरे उतरते हैं। सत्य की विजय होती है। सत्यवादी राजा हरिश्चचन्द्र तो अपने सत्यधर्म के लिए प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु तारा का सत्यरक्षा का व्रत भी किसी प्रकार से न्यून नहीं है, जिसने अपने पति के सत्यधर्म की रक्षा के व्रत में सब प्रकार से सहयोग दिया। पति को कभी भी व्रत से विचलित नहीं होने दिया। उसके लिए उसने राज्य-वैभव को छोड़ा और पर-सेवा-कर्म तक किया। अपमान झेला। तिरस्कार सहा। किन्तु पति को टूटने नहीं दिया। जब भी सत्यधर्म की रक्षा का उल्लेख होगा, राजा हरिश्चन्द्र का नाम तो लिया जायेगा, किन्तु उन्हें यश के इस उच्च शिखर तक पहुँचाने में उनकी पत्नी के सच्चारित्र्य एवं सहधर्मिणीव्रत को कभी नहीं भुलाया जा सकता।[2]

मन्दोदरी- रावण के निखिल राजपरिवार में मात्र मन्दोदरी की अपनी उत्कृष्ट एवं विशिष्ट पहचान है। रावण जैसे रामद्रोही पति की पत्नी होने पर भी उसने अपना विवेक कभी नहीं खोया और राज्य तथा वंश के हित में अपने पति को सदा नेक सलाह दी, भले ही इसके कारण उसे अपने पति के कोप का भाजन बनना पड़ा। उसने अपने पति से भगवान् राम का विरोध न करने का बार बार अनुरोध किया, किन्तु रावण ने उसकी एक नहीं सुनी। परिणामस्वरूप हुआ रावण वंश का विनाश और मन्दोदरी को मिला वैधव्ययोग। विभीषण ने इस स्थिति में मन्दोदरी के साथ वही किया जो सुग्रीव ने बालिपत्नी तारा के साथ किया था। तुलसी ने सुग्रीव और विभीषण के इस कृत्य की भरसक निन्दा की है। किन्तु मानस में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे यह माना जा सके कि विभीषण के उस कुत्सित अभिप्राय में मन्दोदरी की स्वीकृति अथवा सहमति रही हो। इससे मन्दोदरी का

---

2. कहीं कहीं तारा पद का अर्थ बालिपत्नी तारा भी किया गया है, किन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें इन विशेषताओं का अभाव है, जिनके लिए पञ्च कन्याएँ प्रातःस्मरणीय हैं।

निर्मल चरित्र और भी उज्जवल हो उठता है। रविषेण कृत पद्मचरितनामक जैन महाकाव्य में तो रावण की मृत्यु के बाद मन्दोदरी को एक साध्वी के रूप में वर्णित किया गया है। इससे भी मन्दोदरी का चरित्र और अधिक उदात्त उजागर होता है। कुल मिलाकर मन्दोदरी का चरित्र जिस स्रोत से भी हमारे सामने आता है, उसमें विमलता ही विमलता दिखाई देती है। राक्षसराज रावण की पट्टमहिषी होने पर भी अपने व्यक्तित्व की मौलिकता में आँच न आने देना अपने आप में दुष्कर कार्य है। मन्दोदरी अपने इस व्रत में सफल रही है। इसीलिए मन्दोदरी प्रातः स्मरणीय है।

इस प्रकार पाँच सन्नारियों के चरित्र की दृढ़ता का उज्जवल स्वरूप हमारे सामने आता है। पांचों के जीवन में भीषण संकट आये। अपने-अपने प्रकार के। किन्तु वे टूटी नहीं और सदा अपनी चारित्रिक दृढ़ता का परिचय दिया। गौतमपत्नी अहल्या को इन्द्र के कपट का शिकार बनना पड़ा। द्रौपदी को तो कौरवों की भरी सभा में जिस घोर अपमान को झेलना पड़ा, इतिहास में उसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। सीता का क्या अपराध था? राजवधू होते हुए भी जीवनपर्यन्त उसे संकटों और विपदाओं से ही सामना करना पड़ा। हरिश्चन्द्रपत्नी (तारा) को तो असंख्य कष्ट इसीलिए झेलने पड़े, क्योंकि वह अपने पति के सत्यव्रत के पालन में साथ थी और मन्दोदरी को रावण से लोहा लेने में किस मानसिक यातना अथवा तनाव को नहीं सहना पड़ा? यह सब साफ-साफ है। किन्तु फिर भी इन सबने कष्ट झेले और अपने चरित्र की दृढ़ता को अक्षुण्ण बनाये रखा। चरित्र की दृढ़ता के कारण ही लोक उन्हें श्रद्धा से प्रणाम करता है। ❑

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

– मनुस्मृति

भगवद्गीता एवं धम्मपद : तुलना की भूमि पर

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में श्रीमद्भगवद्गीता की गणना वरेण्य ग्रन्थ के रूप में होती है। इस ग्रन्थ का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद होना इसकी व्यापक जनप्रियता का सर्वोत्तम प्रमाण है। गीता यद्यपि भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रंथ है, फिर भी वह किसी भी देश, काल, जाति तथा सम्प्रदाय के लिए समान रूप से उपयोगी है, क्योंकि वह दुराग्रह से कोसों दूर है। उसमें सार्वजनीन सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। हमारे जीवन के उत्तम विकास के लिए जो भी महनीय एवं उदात्त है, वह हमें गीता में संकलित मिलता है।

धम्मपद पालि साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है। इसे बौद्धों की गीता कहा गया है। बौद्ध संसार में इस ग्रन्थ का उसी प्रकार अतिशय सम्मान है, जिस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का है। गीता का उद्बोधन अल्पकाल में समाप्त हो जाता है, किन्तु धम्मपद में तथागत के दीर्घजीवन के उपदेशवचन संगृहीत है।

वस्तुतः भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह हमें मूल त्रिपिटक साहित्य में मिलता है। 'त्रिपिटक' का अर्थ है तीन पिटारी जिनमें भगवान तथागत के उपदेश वचन संगृहीत हैं और जो परम्पराक्रम से भगवान् की विरासत के रूप में हमें मिले हैं। ये तीनों पिटक हैं : विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। इनमें से पहिला अनुशासनविषयक संकलन है, दूसरा उपदेशात्मक है तथा तीसरा मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित वचनों का संग्रह है। अभिधम्मपिटक दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ये पिटक पुनः अनेक ग्रन्थों में विभक्त हैं। इस आधार पर धम्मपद उपर्युक्त सुत्तपिटक के पांच निकायों[1] में से खुद्दक निकाय के अन्तर्गत पन्द्रह ग्रन्थों[2] में से एक है। इसमें तथागत के मुख से समय-समय पर निसृत उपदेश-गाथाएँ विद्यमान हैं। इन गाथाओं की संख्या 423 है और ये 26 वर्गों में विभक्त हैं।

बौद्धसाहित्य में धम्मपद का बड़ा महत्व है। धम्मपद एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी प्रत्येक गाथा में बौद्धधर्म का सार भरा हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य

---

1. दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दकनिकाय।
2. खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक।

में गीता का महत्व है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य में धम्मपद का महत्व है। धम्मपद अकेला एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें बौद्धधर्म के प्रायः सभी सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। इसमें नैतिक सदाचार, चार आर्यसत्य, आष्टांगिक मार्ग तथा संसार से छुटकारा पाने के उपाय आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। सम्पूर्ण पालिसाहित्य में बुद्ध के उपदेशों का जितना सुबोध संग्रह धम्मपद में मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। धम्मपद में भारतीय संस्कृति में प्रचलित प्रायः सभी नैतिक आदर्श संगृहीत हैं। मानवता के आदर्श स्वरूप का जो चित्रण गीता में हुआ है, वहीं चित्रण बुद्ध के उपदेशों में भी मिलता है। वैसे, संस्कृत के अनेक नीतिपरक, इतिहासप्रधान तथा दर्शनविषयक ग्रंथों के वचनों से भी समरूपता हमें धम्मपद की अनेक गाथाओं में मिलती है।

हितोपदेश एवं धम्मपद की निम्नांकित पंक्तियों में समान रूप से दयाभाव का प्रतिपादन मिलता है-

आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।

हितोपदेश-मित्र लाभ -12

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये। धम्मपद-दण्डवग्गो-1

नीचे मनुस्मृति के श्लोकों और धम्मपद की गाथाओं के बीच समानता व्यक्त मिलती है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥ मनु. 2-121
अभिवादनसीलस्स निच्चं बद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं॥

धम्म. सहस्सवग्गो-10

अभिवादनशीलता और वृद्ध पुरुषों के सतत-सेवा-सम्मान से आयु, विद्या, कीर्ति और बल में अभिवृद्धि होती है, इस भाव को यहाँ रेखांकित किया गया है।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥ मनु. 5-45
सुखकांमानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं। धम्म. दण्डवग्गो-3

ऊपर मनुस्मृति के श्लोक एवं धम्मपद की गाथा में हिंसाचरण की समान रूप से निन्दा की गयी है।

महाभारत के वनपर्व के निम्नांकित पद्य एवं धम्मपद की निम्नांकित गाथा में व्यक्त भावों के बीच स्पष्ट एकरूपता देखने को मिलती है।

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।

महा. वन. अध्याय- 133 पद्य-11

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो। धम्म. धम्मट्ठवग्गो-5

ऊपर महाभारत और धम्मपद दोनों में समान रूप से यही मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति मात्र केशों के श्वेत हो जाने से बड़ा-बूढ़ा और सम्मान योग्य नहीं हो जाता।

इसी प्रकार कठोपनिषद् के नीचे उद्धृत मंत्र तथा धम्मपद की निम्नांकित गाथा में विशद भावसाम्य उपलब्ध है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ कठ. 2-3-15

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।

सब्बगन्थप्पहीनस्स परिलाहो न विज्जति॥

धम्म. अरहन्तवग्गो-1

ऊपर दोनों ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है, कि जिसके हृदय की ग्रन्थि खुल गयी है, वह शोक रहित एवं सर्वथा विमुक्त हो जाता है तथा अमृतत्व प्रास कर लेता है।

गीता के पद्यों और धम्मपद की गाथाओं के बीच तो मात्र एक या दो स्थलों पर नहीं, अपितु स्थलों-स्थलों पर भावों तथा विचारों की स्पष्ट समानता परिलक्षित होती है।

चित्त की चंचलता के विषय में गीता में भगवान् कृष्ण से अर्जुन कहते हैं, कि यह मन बड़ा चंचल, क्षुब्ध करने वाला, दृढ़ और बलवान् है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्। गीता 6-34

अतः कृष्ण, सखा अर्जुन को परामर्श देते हुए कहते हैं कि यद्यपि मन

चंचल और कठिनाई से वश में किये जाने योग्य है, तो भी निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गीता 6-35

यही भाव धम्मपद में भी व्यक्त किया गया है। वहाँ कहा गया है कि चित्त नियंत्रणविहीन और स्वच्छन्द गति से विचरने वाला है। इसीलिए शास्ता ने इसे वश में करने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि चित्त को उसी प्रकार वश में किया जाना चाहिए जैसे मतवाले हाथी को अंकुश धारण करने वाला महावत अपने वश में कर लेता है।

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं,
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो,
हत्थिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो॥ धम्म. नागवग्गो-7

गीता में कहा गया है कि मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं करना है। क्योंकि आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु भी है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। गीता 6-5

ऐसा ही भाव धम्मपद के भिक्षुवग्ग में भगवान् ने भिक्षुओं के उपदेश प्रसंग में व्यक्त किया है। वहां वे कहते है कि मनुष्य अपना स्वामी आप है और वह स्वयं ही अपनी गति है।

अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति। धम्म. भिक्खुवग्गो-21

गीता में योगियों और संन्यासियों के बाहरी आडम्बर को स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है। गीता के छठे अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि केवल अग्नि का त्याग करने से अथवा केवल कर्म का त्याग करने से कोई भी संन्यासी अथवा योगी कहलाने के योग्य नहीं हो जाता, प्रत्युत कर्म के फल का त्याग करते हुए अपने कर्म को करने वाला ही संन्यासी अथवा योगी कहलाने का पात्र है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। गीता 6-1

गीता में मन की शुचिता पर बल देते हुए धर्म के सही आचरण को गौरव प्रदान किया गया है।

धम्मपद में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है, कि कोई भी न तो जटा, न गोत्र और न जन्म रूप बांहरी उपाधियों से ब्राह्मण कहलाता है, वरन् जो सत्य और धर्म का आचरण करता है, वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है।

न ज़टाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ धम्म. ब्राह्मणवग्गो-11

धम्मपद में 'ब्राह्मण' शब्द उदात्त अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ "अतिपवित्रतामण्डित"- इस रूप में ग्रहण किया गया है। धम्मपद में ब्राह्मण के संबंध में वही धारणा व्यक्त मिलती है जो गीता में निष्काम कर्मयोगी, समत्वबुद्धियुक्त ज्ञानी, संन्यासी अथवा स्थितप्रज्ञ के विषय में व्यक्त की गयी है। यहां भी बाह्याडम्बर के लिए कोई स्थान नहीं है।

जीवन की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए गीता के द्वितीय अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु होना निश्चित है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। गीता 2-27

इस प्रकार गीता में कहा गया है कि प्राणी की मृत्यु एक अटल सत्य है।

धम्मपद में भी मृत्यु की अपरिहार्यता को स्वीकार किया गया है। वहां तथागत कहते हैं कि न आकाश में, न समुद्र में, और न पर्वतों के विवर में-संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां रहने वाले को मृत्यु न सतावे।

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।

न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू॥

धर्म. पापवग्गो-13

गीता में निष्काम कर्मयोगी के लिए मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों की आसक्ति का परित्याग करते हुए, ममत्वबुद्धि से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि-हेतु कर्म करने का आग्रह है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ गीता 5-11

धम्मपद में भिक्षुलक्षणप्रसंग के अन्तर्गत, इसी भाव को व्यक्त करते हुए

शास्ता कहते हैं, कि जिसके हाथ, पैर और वचनों में संयम है, जो उत्तम संयमी है, जो घट के भीतर रत (अध्यात्मरत), समाधियुक्त, अकेला और संतुष्ट है, वही भिक्षु है।

इस प्रकार गीता के निष्काम कर्मयोगी और धम्मपद के भिक्षु-दोनों के आचरण-व्यवहार में समानता परिलक्षित है। संयमधर्म और आत्मपरितोष- ये दोनों के ही अपरिहार्य लक्षण हैं।

गीता में कहा गया है कि सम्पूर्ण जागतिक प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसी में संयमवान् पुरुष जाग्रत रहता है और नित्यशुद्धबोधस्वरूप परमानन्द का आस्वाद लेता है तथा जिन नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखों में सब प्राणी जागते हैं अर्थात् उसमें रस लेते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह सब रात्रि है, अर्थात् वह उनसे अनासक्त रहता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता 2-69

धम्मपद में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि वह रमणीय वन जहां साधारण जन रमण नहीं करते, वहां भोगों के पीछे न भटकने वाले वीतराग रमण करते हैं।

रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमते जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न तो कामगवेसिनो॥ धम्म. अरहन्तवग्गो-10

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से नश्वर और अनश्वर के प्रति गीता के तत्त्वदर्शी तथा धम्मपद के वीतराग का दृष्टिकोण समान है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विवेचन करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है कि वह राग, भय और क्रोध को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा सर्वदा उनके प्रभाव से मुक्त रहते हुए मनःप्रसादयुक्त मुनिभाव को प्राप्त होता है।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। गीता 2-56

धम्मपद में रागद्वेष के विनाशकारी परिणामों की ओर संकेत करते हुए तथागत कहते हैं कि राग के समान अग्नि नहीं है और द्वेष के समान मल या दूषण नहीं है। इसीलिये उनसे सर्वथा मुक्त रहने के प्रति भगवान् ने उपदेश दिया है, ताकि जीवन में शान्ति मिले एवं निर्वाण का मार्ग प्रशस्त हो।

गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के कामजयित्व की प्रशंसा करते हुए

कृष्ण कहते हैं कि लोक के समस्त भोग भी स्थितप्रज्ञ के मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, बल्कि स्वयं उन भोगों का ही अवसान हो जाता है और स्थितप्रज्ञ परमशान्त भाव में स्थित बना रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ गीता 2-70

धम्मपद में ब्राह्मण के द्वारा कामनाओं पर विजय की प्रशंसा करते हुए तथागत कहते हैं, कि वह भोगों-कामनाओं से उसी प्रकार अलिप्त रहता है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर जल की बूंद अथवा आरे की नोंक पर सरसों के बीज अस्थिर रहते हैं।

वारि पोक्खरपत्ते' व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ धम्म. ब्राह्मणवग्गो-19

गीता तथा धम्मपद दोनों ग्रन्थों में कामनाओं-भोगों से निर्लिप्त रहने एवं उन पर विजय प्राप्त करने की समानरूप से प्रशंसा की गयी है।

समत्वभाव में स्थित ज्ञानी की प्रशंसा करते हुए गीता में कहा गया है कि वह जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार को जीत लेता है, अर्थात् जीते हुए ही वह संसार से मुक्त होकर परम तत्त्व में स्थित हो जाता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ गीता 5-19

गीता के इसी भाव की अभिव्यक्ति हमें धम्मपद में मिलती है, जहाँ कहा गया है कि जो श्रेष्ठ, प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक और बुद्धत्व को प्राप्त है, वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है।

उसभं पवरं वीरं महेसिं बिजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ धम्म. ब्राह्मणवग्गो-41

आत्मसंयम की प्रशंसा करते हुए गीता में कृष्ण ने कहा है, कि जिसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के प्रति आसक्तिशून्य है, उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है तथा जो जीवन में काम-क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह सुखी एवं योगी है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ गीता 5-21, 23

धम्मपद में भगवान् तथागत आत्मसंयमी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उसे संसार की कोई भी शक्ति परास्त नहीं कर सकती। एक अन्य प्रसंग में वे कहते हैं, कि जिसके रागद्वेष आदि उपशान्त हो गये हैं, वह जय और पराजय की भावना से मुक्त हो, सुख की नींद सोता है।

नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो॥ धम्म. सहस्सवग्गो-6
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं॥ वही-सुखवग्गो-5

गीता के अक्षर-ब्रह्म-योग नामक अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा पुरुष उन्हें प्राप्त होकर, दुःखों के स्थान रूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म से मुक्ति पा लेते हैं।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। गीता 8-15

धम्मपद में कहा गया है कि जो दुर्गमसंसार अर्थात् जन्म मरण के चक्र में डालने वाले मोहरूपी विपरीत मार्ग का त्याग कर देता है, जो संसार से पारंगत ध्यानी है और जो संसार को तीर्णकर चुका है, शास्ता उसे सम्मानास्पद ब्राह्मणपद से सम्बोधित करते हैं।

यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी॥
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। धम्म. ब्राह्मणवग्गो-32

जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेने पर आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति होती है, इस तथ्य का प्रतिपादन जिस प्रकार गीता में किया गया है, उसी प्रकार से हमें धम्मपद में भी उपलब्ध होता है।

गीता के भक्तियोग नामक अध्याय में कृष्ण कहते हैं, कि जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष और भय आदि से मुक्त रहता है, ऐसा पवित्रहृदय साधक उन्हें प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। गीता 12-15

यही भाव धम्मपद में भी अभिव्यक्त मिलता है, जहां कहा गया है कि जो अकर्कश, सार्थक और सत्य वचन बोलता है तथा जिससे किसी को भी कोई पीड़ा प्राप्त नहीं होती, भगवान् तथागत उसे ही ब्राह्मण के श्रेष्ठ पद का अधिकारी मानते हैं।

अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किञ्चित् तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। धम्म. ब्राह्मणवग्गो-26

यद्यपि गीता एवं धम्मपद में अनेक स्थलों पर विचारों में समानता परिलक्षित है, किन्तु दोनों के बीच कतिपय आधारभूत अन्तर भी हैं। गीता हमें जीवन जीने के लिए, जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप में भाग लेने के लिए प्रेरित करती है। वह हमें जीवन से जूझने का-न कि जीवन से भागने का-सन्देश देती है। गीता में कर्मप्रवृत्ति पर आग्रह है, जबकि धम्मपद का आग्रह निवृत्ति पर है। गीताकार वेदों के प्रमाण को मान्य ठहराते हैं, भले ही अन्त में उनकी निरर्थकता प्रतिपादित है, किन्तु तथागत के सोच में वेदों के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता में कहा गया है कि जो अनन्यभाव से अपने आराध्य की भक्ति करता है, उसे अपने योग-क्षेम के भार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता 9-22

भगवान बुद्ध की साधना में इस प्रकार की भक्ति को कोई स्थान नहीं है। भगवान बुद्ध प्रत्येक को आत्मदीप बनने का उपदेश देते हैं। इसीलिए धम्मपद में निर्वाण के लिए अपना भार स्वयं उठाने की बात कही गयी है।

अत्तना चोदयात्तानं पटिवासे अत्तमत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खू विहाहिसि॥ धम्म. भिक्खुवग्गो-20

जीवन को जीने के प्रति गीता और धम्मपद-दोनों के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है। वेदों की मान्यता के प्रति दोनों का अपना-अपना दृष्टिकोण है। गीतादर्शन का आधार मूलतः उपनिषद्वाङ्मय है, जबकि धम्मपद-दर्शन का आधार तथागत की वाणी है। इस प्रकार गीता और धम्मपद-दोनों ग्रंथों की दार्शनिक पृष्ठभूमि अपनी-अपनी है। फिर भी भिन्नताओं के बीच दोनों ग्रंथों में भावों एवं विचारों की समानता सुखद आश्चर्य का विषय है। □

संस्कृत साहित्य में निक्षेप

'निक्षेप' शब्द का अर्थ है धरोहर अथवा वह धन या वस्तु जो धर्मपूर्वक एक व्यक्ति के द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति के पास एक निश्चित अवधि के लिए इस विश्वास से रख दी जाती है कि वापिस माँगे जाने पर निक्षिप्त वस्तु उसे उसी/सही रूप में प्राप्त हो जावेगी। स्मृतिकार नारद और बृहस्पति ने निक्षेप की इसी रूप में व्याख्या की है। याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका में 'समक्षं तु समर्पणं निक्षेपः' यह लक्षण निक्षेप का मिलता है। कोशग्रंथों में भी निक्षेप के लिए इसी आशय के पर्याय मिलते हैं। स्मृतिग्रंथों में निक्षेप के लिए 'उपनिधि' शब्द भी व्यवहृत हुआ है, यद्यपि मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट दोनों के बीच किंचित् भेद करते हैं।

निक्षिप्यत इति निक्षेपः।

मुद्राङ्कितमगणितं वा यन्निधीयते स उपनिधिः।

(मन्वर्थमुक्तावली 8-185)

संस्कृत ग्रंथों में निक्षेप के लिए 'न्यास' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में उपनिधि, न्यास और निक्षेप- तीनों शब्दों को एक दूसरे के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है।

उपनिधिर्न्यासो निक्षेप इति पर्यायाः। (कौटिलीय अर्थशास्त्र 3.12.84) निक्षेप की आधारभूमि विश्वास है। निक्षेप की कल्पना में भारतीय उच्चादर्शों की गौरवमयी परम्परा की रक्षा के संकेत मिलते हैं।

स्मृतिग्रंथों में 'निक्षेप' के सैद्धांतिक पक्षका विस्तृत विवेचन मिलता है। मनुस्मृति में निक्षेप के पात्रों की चर्चा करते समय कहा गया है कि निक्षेप को उत्तम कुलोत्पन्न, सदाचारी, धर्मज्ञाता, सत्यभाषी, बड़े परिवार वाले, धनवान्, सज्जन व्यक्ति के पास ही रखा जाना चाहिए।

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।

महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः। मनु 8-179

नारद और बृहस्पति की भी निक्षेप-स्थापन के संबंध में यही मान्यता है। निक्षेप जिस रूप में किसी व्यक्ति के पास रखी जाती है, उसके उसी रूप में लौटायी

जाने का भी स्मृतिग्रंथों में आग्रह है।

निक्षेपप्रसंग में साक्षी का भी अपना महत्व है। विशेष परिस्थिति में साक्षी के अभाव में राज्य के न्यायधीश को युक्तिपूर्वक उस व्यक्ति से धरोहर प्राप्त कर लेने का अधिकार है, जिसके पास धरोहर रखी गई थी।

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।

स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ। मनु. 8-181

धरोहर के न लौटाने पर स्मृतिग्रंथों में अर्थदण्ड की भी व्यवस्था है।

संस्कृतसाहित्य में ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों में निक्षेप की संयोजना की है। अपने विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति हेतु उन्होंने निक्षेप को अपनी कृतियों में संजोया है। उन्होंने स्मृतिकारों के समान निक्षेप के सिद्धांत पक्ष की विवेचना नहीं की है, किन्तु 'निक्षेप' शब्द के भीतर निहित उस पवित्र विश्वासभाव को उद्घाटित करने का यत्न अवश्य किया है, जो निक्षेप के लिए आधारभूत प्राणतत्त्व है।

संस्कृतसाहित्यकार की मान्यता है कि निक्षेप की परिधि में केवल कोई जड़वस्तु ही नहीं आती है। संस्कृतकवि की तो यह मान्यता है कि निक्षेप की सीमा में सभी कुछ आ सकता है। फिर चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। अपनी कृतियों में तो उन्होंने जीवित पात्रों को भी निक्षेप रूप में रखा है। इससे उन्हें अपनी कृतियों में कथावस्तु के विकास में सफलता मिली है। पात्रों के चरित्र-चित्रण एवं उनके मनोभावों को उद्घाटित करने की योजना में भी रचनाकारों को सफलता मिली है। निक्षेपयोजना का विकसित रूप हमें लौकिक वाङ्मय में विशेष रूप से देखने मिलता है।

वैदिक वाङ्मय में धरोहर का वह स्पष्ट रूप यद्यपि हमें नहीं मिलता जिसका विवेचन स्मृतिवाङ्मय में उपलब्ध होता है, तो भी विश्वास की उस भावना का संकेत अवश्य मिलता है, जो निक्षेप अथवा धरोहर का प्राणतत्त्व है। वेदांगवाङ्मय के अन्तर्गत यास्ककृत निरुक्त में हमें उस विश्वास का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। निरुक्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में विद्या, विद्वान् से प्रार्थना करती है कि वह उसकी रक्षा करे। वह उसकी निधि है। वह उसे किसी निन्दा करने वाले, कपटाचरण करने वाले अथवा असंयमी को वितरित न करे।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
निरुक्त अ. 2 पा.1

इस प्रकरण में भी संकेत यही मिलता है कि किसी व्यक्ति के द्वारा सौंपी गई वस्तु की संरक्षा पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से तो करना ही चाहिए, उसको वितरित करने का कार्य भी उसी उत्तरदायित्व की भावना से किया जाना चाहिए। विद्या उसी को प्रदान की जाये जो उसका सही पात्र हो और जो उसकी सम्यक् रक्षा करने में समर्थ हो। इस प्रकार निरुक्तवाङ्मय में हमें निक्षेप की एक झलक मिलती अवश्य है, भले ही उसका वह स्वरूप न हो, जिसका विवेचन स्मृतिवाङ्मय में किया गया है।

इसी प्रकार आर्षवाङ्मय में भी निक्षेप का कुछ ऐसा ही स्वरूप हमें प्राप्त होता है। निक्षेप अथवा धरोहर में वस्तु की रक्षा का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना उस विश्वास की रक्षा का जिससे प्रेरित होकर एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के पास अपनी प्राणप्रिय वस्तु को भी बिना किसी हिचक के रख छोड़ता है और पूर्ण रूप से इस बात से आश्वस्त रहता है कि उसकी वह वस्तु उतनी ही संरक्षित है, जितनी वह उसके पास होने से होती। रामायण में वर्णन मिलता है कि महाराज दशरथ और जटायु की किसी समय मित्रता हो गई थी। दशरथ के द्वारा अपने प्रति प्रदर्शित प्रेम को जटायु दीर्घकाल से अपने भीतर अनुपम निधि के समान संजोये बैठा था। एक प्रसंग आया, जब उसने अपने सामने से सीता को हरण कर ले जाते हुए रावण को देखा। जटायु यद्यपि वृद्ध था, तो भी दशरथ के द्वारा प्रदत्त प्रेमनिधि की रक्षा करना उसने अपना कर्तव्य समझा। जो दशरथ की वधू, वह जटायु की वधू। अतः अपनी वधू की आततायी से रक्षा करने में उसने कुछ भी कसर न रख छोड़ी, भले ही शत्रु के प्रबल होने के कारण उसे सफलता न मिली और अपने प्रयास में उसे प्राणों से हाथ भी धोना पड़े। प्रेमरूपी धरोहर की रक्षा का रामायण में यह अपने प्रकार का अपूर्व उदाहरण है। इसमें आदि कवि को एक तिर्यक् योनि के प्राणी के चरित्र को उद्भासित करने में अच्छी सफलता मिली है। धरोहररक्षा के प्रसंग हमें रामायण में अन्यत्र भी मिलते हैं।

'पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्वा पुनः पुनः।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ।।
तव पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप । वा.रा. 2-112-24, 25

इन पंक्तियों में भरत जो अपने अग्रज श्रीराम की चरण पादुकाएँ प्राप्त करते हुए कहते हैं कि उनके आगमन तक राज्य का भार उनकी चरण पादुकाओं पर ही विन्यस्त रहेगा। आदि कवि ने यहाँ उसी धरोहर की कल्पना की है, जिसकी पूर्ण रूप से संरक्षा अपेक्षित है।

महाभारत में पाण्डु के स्वर्गगमन प्रसंग पर 'उपनिधि' शब्द का प्रयोग मिलता है, जहां पाण्डु के पुत्रों और दाराओं को उपनिधि रूप रखे जाने और पाण्डु के स्वर्गारोहण की बात कही गई है।

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः।। महाभारत-1-125-3

जिस प्रकार धरोहर-रक्षा उदात्त संस्कृति की परिचायिका है, उसी प्रकार धरोहर की रक्षा न करना गिरी हुई संस्कृति की सूचना देता है। महाभारत में दुर्योधन इसी अपसंस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। पाण्डवों ने दुर्योधन पर विश्वास किया और धोखा खाया, जिसका दुखद अन्त महाभारत युद्ध के रूप में हुआ। दुर्योधन ने पाण्डवों के द्वारा उसमें निक्षिप्त विश्वासरूपी धरोहर का उच्छेद किया जो महाभारत युद्ध का कारण बना। इस प्रसंग में महाभारतकार व्यास को दुर्योधन के द्वारा विश्वास रूपी निक्षेप की रक्षा न करने के कारण उसके चरित्र के खोखलेपन को उद्घाटित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

लौकिक वाङ्मय के दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य-दोनों रूपों में हमें निक्षेप की सुन्दर योजना देखने मिलती है, भले ही वह कहीं स्पष्ट रूप में हो और कहीं सूक्ष्म सांकेतिक रूप में।

रूपक वाङ्मय में निक्षेप के जो प्रसंग हमारे सामने हैं, उनसे नाटक के विभिन्न तत्त्वों को सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने में नाटककारों को सहायता मिली है। संस्कृत के प्राचीन नाटककार भास ने अपनी प्रसिद्ध नाट्यकृति स्वप्नवासवदत्तम् में निक्षेप की मौलिक योजना की है। नाटक के प्रथम अंक में ब्रह्मचारी के द्वारा सूचना

दी जाती है कि लावाणकग्राम में आग लग जाने के फलस्वरूप वासवदत्ता उस आग में दग्ध हो गई और उसे बचाने के प्रयास में प्रधान अमात्य यौगन्धरायण भी अपने प्राण खो बैठा। जबकि यौगन्धरायण और वासवदत्ता की अपने राज्य की रक्षा करने की योजना का यह एक भाग था। वास्तव में न तो वासवदत्ता जली थी और न यौगन्थरायण। अब समस्या थी यौगन्धरायण के लिए वासवदत्ता को कुछ समय के लिए किसी ऐसे सही स्थान में धरोहर के रूप में रख देने की जहां उसकी और उसके चरित्र की सम्यग् रूप से रक्षा हो सके।

अतः यौगन्धरायण एक साधु का वेष धारण करता है और वासवदत्ता आवन्तिका का। इस प्रकार वेष बदलकर दोनों निकल पड़ते हैं। चलते-चलते वे एक आश्रम पर पहुंचते हैं, जहां मगध देश की राजमाता ठहरी हुई हैं। वहीं राजा की भगिनी राजकुमारी पद्मावती अपनी माता से मिलने आई है। वहां राजकुमारी पद्मावती आश्रमवासियों के लिए उनकी इच्छित वस्तु दान करने की अपने काञ्चुकीय के माध्यम से घोषणा करती है।

कस्यार्थः कलशेन को मृगयते वासो यथानिश्चितं,

दीक्षां पारितवान्, किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्यद् भवेत्।

आत्मानुग्रहमिच्छतीह नृपजा धर्माभिरामप्रिया।

यद् यस्यास्ति समीप्सितं वदतु तत् कस्याद्य किं दीयताम् ॥ स्वप्न. 1-8

यौगन्धरायण इस घोषणा का लाभ उठाता है, क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास है कि राजकुमारी पद्मावती के द्वारा यह कार्य संभव है। अतः पद्मावती के पास साधुवेश में यौगन्धरायण आवन्तिका वेषधारिणी वासवदत्ता को लेकर उपस्थित होता है और निवेदन करता है कि वह उसकी बहिन है। उसका पति कुछ समय के लिए बाहर गया है। अतः उस समय तक के लिए अपनी बहिन को उसके संरक्षण में वह रखना चाहता है और यथा समय उसे वापिस ले जावेगा। राजकुमारी पद्मावती साधुवेषधारी यौगन्धरायण की इस प्रार्थना को स्वीकार करती है, यद्यपि काञ्चुकीय इस प्रकार की प्रार्थना को स्वीकार करने में कुछ आनाकानी प्रदर्शित करता है।

सुखमर्थो भवेद् दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः।

सुखमन्यद् भवेत्सर्वं, दुःखं न्यासस्य रक्षणम्॥ वही 1-10

स्वप्नवासवदत्तम् नाटक में यह निक्षेप का प्रसंग है। इससे नाटककार को अपने नाटक में कई उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता मिली है। वासवदत्ता को प्रच्छन्नवेष में पद्मावती के पास रख छोड़ने से भास को नाटक के द्वितीय और तृतीय अंकों में यह उद्घाटित करने में सफलता मिली है कि वासवदत्ता का उदयन के प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम था। वासवदत्ता और पद्मावती के मधुर संबंधों का भी उद्घाटन वहीं होता है। चौथे और पांचवें अंक की घटनाओं से तो स्पष्ट ही उदयन की वासवदत्ता के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति मिल जाती है। वहीं उदयन के मन का अन्तर्द्वन्द्व भी उद्घाटित होता है। उदयन तो वासवदत्ता को कभी भूला ही नहीं है। भास को यह सब निरूपित करने में सफलता इसलिए मिली कि उसने वासवदत्ता को धरोहर के रूप में पद्मावती के पास रखना ही चुना। क्योंकि ज्योतिषियों की घोषणा के अनुसार वही पद्मावती वासवदत्ता की दहन-घटना के बाद उदयन की होने वाली रानी थी।

पद्मावती नरपतेर्महिषी भवित्री दृष्टा विपत्तिरथ यैः प्रथमं प्रदिष्टा।
तत्प्रत्ययात् कृतमिदं न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि।

वही 1-11

भास ने अपने इस उद्देश्य को अमात्य यौगन्धरायण के मुख से नाटक की परिसमाप्ति पर स्पष्ट कर दिया है।

राजा- वयस्य! यौगन्धरायण! देव्यपनये का कृता ते बुद्धिः?
यौगन्धरायण- कौशाम्बीमात्रं परिपालयामीति।
राजा- अथ पद्मावत्या हस्ते किं न्यासकारणम्?
यौगन्धरायण- पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति।

इस प्रकार धरोहर की मौलिक कल्पना से नाटककार भास को स्वप्नवासवदत्तम् नाटक में कथावस्तु को गति देने में, पात्रों के चरित्र-निरूपण में और उनके मनोभावों को उद्घाटित करने में अच्छी सफलता मिली है।

'मृच्छकटिक' में शूद्रक की निक्षेपयोजना कुछ भिन्न प्रकार की है। नाटक के प्रथम अंक में नायिका वसन्तसेना अपने अलंकार को उसका पीछा करने वाले दुष्टों से बचाने के लिए आर्यचारुदत्त के घर रखना चाहती है।

"ता इच्छे अहं इमं अलंकारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुं।
अलङ्कारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरन्ति।"
तदिच्छाम्यहमिममलङ्कारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्।
अलङ्कारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।

किन्तु तृतीय अंक की घटनाओं से ज्ञात होता है कि चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर शर्विलक (चोर) वसन्तसेना के उस आभूषण को चुरा लेता है। जब चारुदत्त को यह मालूम होता है कि चोर उसके घर से उसके यहां रखी हुई धरोहर (वसन्त सेना का आभूषण) चुरा ले गया है, तब वह मूर्छित हो जाता है। उसकी मूर्च्छावस्था का कारण यह है कि उसके दरिद्र होने के कारण लोग वास्तविकता पर विश्वास ही न करेंगे। उलटे उसे ही अपराधी ठहरायेंगे। उसे उसके चरित्र के कलंकित होने का भय/ विषाद अधिक है। दरिद्र होने का उतना क्लेश नहीं है।

मृच्छकटिक प्रकरण की इस घटना से नायक चारुदत्त के चरित्र की उज्जवलता को प्रकाश में लाने का नाटककार को अवसर मिल गया है। अपने यहां रखी हुई निक्षेप की रक्षा न कर सकने का उसे अत्यन्त दुःख है, भले ही निक्षेपरूप वह अलंकार उसके मित्र विदूषक की असावधानी से चोर के द्वारा चुरा लिया गया है। विदूषक उसे सांत्वना दिलाता है कि "आप चिन्ता न करें। अलंकार लौटाने का प्रसंग ही न आयेगा। मैं प्रचार करूंगा कि अलंकार किसने दिया है? किसने लिया है? कौन साक्षी है?" इस पर चारुदत्त कहता है कि "क्या मैं झूठ बोलूंगा?" वह आगे कहता है कि "धरोहर के मूल्य के धन को लौटाने के लिए भिक्षा का आश्रय भले ही लेना पड़े, किन्तु अपने चरित्र को दूषित करने के लिए झूठ नहीं बोलूंगा।"

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्। वही 3-26

जब चारुदत्त की भार्या धूता को यह वृत्तान्त मालूम होता है, तब वह अपने पति को कलंक से बचाने के लिए अपनी रत्नमाला विदूषक के हाथ भेजती है। विदूषक के द्वारा रत्नमाला की बहुमूल्यता निरूपित करने पर चारुदत्त उससे कहता है कि "प्रश्न धरोहर के बराबर मूल्य की वस्तु लौटाने का नहीं है। प्रश्न है उस विश्वास

1 मृच्छकटिकम्-चौखम्बा संस्करण (1954) पृ. 88

की रक्षा करने का जिससे प्रेरित हो, वसन्तसेना ने हमारे पास धरोहर रखी थी।"

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।

तस्यैतम्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते।। वही 3-29

इस प्रकार मृच्छकटिक प्रकरण में निक्षेप की घटना के माध्यम से नाटककार को नायक चारुदत्त की दरिद्रावस्था में भी उसके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को प्रकट करने का अच्छा अवसर मिल गया। परीक्षा की उस घड़ी में भी उसने भिक्षा मांगना अधिक उचित समझा अपेक्षा झूठ बोलने के। किन्तु ठीक समय पर उसकी भार्या ने अपने पति की स्थिति को पहिचाना और अपनी कर्तव्यभावना और उदाराशयता का परिचय दिया। इस प्रकार नाटककार शूद्रक को नाटक में चारुदत्त और उसकी भार्य धूता के चरित्र की उज्ज्वलता को निक्षेपयोजना के माध्यम से उद्घाटित करने का अवसर मिल गया।

नाटककार कालिदास ने अपने नाटकों में कहीं भी निक्षेप की योजना उस रूप में नहीं की है, जिस रूप में भास अथवा शूद्रक ने अपनी नाट्य कृतियों में की है, किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के बिदा प्रसंग पर महर्षि कण्व के मन में उसी प्रकार संतोष की अनुभूति हुई है, जैसे अपने पास रखी हुई किसी दूसरे की धरोहर को उसके अधिकारी को वापिस लौटा देने पर होती है।

जातो ममायं विशदः प्रकामं

प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा। अभिज्ञान. 4-22

शकुन्तला कण्वऋषि की पालित पुत्री मात्र थी। महर्षि कण्व तो केवल उस क्षण तक उसकी देखभाल और पालन-पोषण का उत्तरदायित्व वहन कर रहे थे, जब तक उसका परिणय नहीं हो जाता। दुष्यन्त के साथ उसका गंधर्वविधि से विवाह संपन्न हो चुकने पर उसे उसके पतिगृह भेजने के समय कालिदास के द्वारा कण्व के मुख से "प्रत्यर्पितन्यास" शब्द का प्रयोग कराना बड़ा स्वाभाविक और सुन्दर लगता है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के मन में न्यास की बड़ी स्पष्ट कल्पना थी।

श्रव्यकाव्य में निक्षेप की योजना यद्यपि उतने स्पष्ट रूप में नहीं मिलती, जितनी दृश्यकाव्य में हुई है, किन्तु महाकाव्यों में भी कवियों ने निक्षेप के भीतर निहित भावना को स्वीकार किया है और उसी रूप में न्यास अथवा निक्षेप का प्रयोग किया। रघुवंशमहाकाव्य के द्वादश सर्ग में वनगमन का आदेश शिरोधार्य कर राम वन

को चले जाते हैं। जैसे ही कुमार भरत को ननिहाल से लौटने पर यह वृत्त मालूम होता है, तो वे श्रीराम को वापिस लौटाने के लिए जंगल की ओर चल पड़ते हैं। चित्रकूट पहुंचने पर वे श्रीराम से अयोध्या लौटने की प्रार्थना करते हैं। श्रीराम भरत के आग्रह को स्वीकार तो नहीं करते किन्तु उनके संतोष के लिए अपनी पादुकाएँ प्रदान कर देते हैं। भरत की मान्यता है कि अयोध्या के राजा तो श्रीरामचन्द्र ही हैं। अतः चित्रकूट से लौटकर भरत ने अयोध्या में तो प्रवेश नहीं किया किन्तु नंदिग्राम में रहते हुए 'राज्य' की धरोहर के समान देखभाल करने लगे।

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्राता नैवाविशत्पुरीम्।
नंदिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक्॥ रघु. 12-18

इस प्रसंग में महाकवि कालिदास ने भरत के चरित्र के उस पक्ष को उद्‌घाटित किया है जिसमें किसी व्यक्ति के द्वारा उसे सौंपी गई वस्तु की निःस्वार्थ भाव से एवं तन्मयतापूर्वक रक्षा करने की भावना प्रतिबिंबित होती है। साथ ही 'न्यास' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि राजकुमार भरत निःस्पृह भाव से एक निश्चित अवधि तक राज्य की देखभाल कर रहे हैं। राज्य के स्वामी तो राघवेन्द्र राम ही हैं, जिन्हें वनवास काल की समाप्ति पर पुनः सिंहासन पर बैठना है।

माघकृत शिशुपालवध में निक्षेपस्थापना का शब्दशः वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु जो भी संकेत वहां मिलता है, उसके पीछे निक्षेप की वही उदात्त परिकल्पना है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में श्रीकृष्ण के निवास स्थान पर नारदजी के आगमन पर श्रीकृष्ण के द्वारा उनके सत्कार में अभिव्यक्त उद्‌गारों से जानने मिलता है कि विधाता ने उन्हें वेदों की अक्षय निधि प्रदान कर अपने चित्त में संतोष का अनुभव किया है क्योंकि उस ज्ञाननिधि का निक्षेप योग्य पात्र में हुआ है, और ब्रह्माजी इस बात से आश्वस्त हैं कि उस ज्ञानधरोहर की नारदजी के हाथों पूर्ण संरक्षा होगी और उस ज्ञानसम्पदा को कोई योग्य अधिकारी ही उनसे प्राप्त करने में समर्थ होगा।

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव।

शिशु. 1-28

संस्कृत के आख्यान साहित्य में निक्षेप का एक सुन्दर प्रसंग हमें मिलता है। "द्वात्रिंशत्पुत्तलिका" में एक कथा मिलती है, जिसमें एक ऐन्द्रजालिक का वर्णन

है, जो एक दिन राजा विक्रमादित्य की सभा में उपस्थित होकर निवेदन करता है कि महाराज ने अनेक ऐन्द्रजालिकों के प्रदर्शन देखे होंगे। उसकी प्रार्थना है कि उसका प्रदर्शन भी देखने की कृपा की जाये। राजा उसे दूसरे दिन उपस्थित होने के लिए कहते हैं।

दूसरे दिन प्रातः काल एक तेजस्वी वीर पुरुष अपनी पत्नी सहित राजा के समक्ष उपस्थित होता है। उसे देखकर राज्य के अधिकारीगण उससे पूछते हैं कि वह कहां से आया है? वीर पुरुष उत्तर देता है कि वह महेन्द्र का सेवक है। अपने स्वामी के शाप से ग्रस्त होकर वह भूमण्डल पर विचरण कर रहा है। किन्तु देवों और दानवों का युद्ध प्रारंभ हो जाने से उसे स्वर्ग पहुंचने का आदेश हुआ है। अतः अपनी भार्या को वह धर्मावतार राजा विक्रमादित्य के संरक्षण में छोड़कर युद्ध में जाना चाहता है।

इस प्रकार अपनी भार्या को राजाके पास छोड़कर अपनी खड्ग के सहारे वह वीर पुरुष आकाश में उठ जाता है। उसी समय आकाश में युद्ध कोलाहल सुनाई पड़ता है। सभी आश्चर्य से ऊपर की ओर देखते हैं। थोड़े ही समय में उस वीर पुरुष के शरीर के सभी अंग कटकटकर गिर जाते हैं। खड्ग भी पृथ्वी पर आ गिरती है। उस वीर की शोकाविष्ट पत्नी राजा से निवेदन करती है कि उसे सती होने की स्वीकृति प्रदान की जाये। राजा उसे सती होने की अनुमति दे देते हैं। सभी शोकातुर जनों की उपस्थिति में वह वीर पत्नी अपने पति के कटे हुए अंगों के साथ चन्दनचिता में प्रविष्ट होकर अपना शरीर त्याग देती है।

दूसरे दिन प्रातः वही वीर पुरुष पुनः राजा के समक्ष उपस्थित होता है और युद्ध के अपने सुखद अनुभवों का व्याख्यान करता है एवं निवेदन करता है कि युद्ध में देवताओं की विजय हुई। प्रसन्नतापूर्वक इन्द्र ने उसे सूचित किया है कि उसके शाप का अवसान हो गया है। अतः उसे स्वर्ग में ही रहना है। मर्त्यलोक में जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः वह अपनी भार्या को राजा से वापिस लेने आया है।

इस पर सभी आश्चर्य चकित होते हैं। राजा उससे कहते हैं कि "उसकी पत्नी तो पूर्व दिवस ही पृथ्वीतल पर उसके कटे हुए अंगों के साथ चिता में प्रविष्ट होकर सती हो गई है।" तब वह वीर पुरुष कहता है कि राजा का कथन असत्य है। राजा पर वह दूसरे की ललना पर लोलुप दृष्टि डालने का आरोप लगाते हुए कहता है कि उन्होंने उसकी पत्नी को भीतर छिपा रखा है। ऐसा कहते हुए वह सिंहासन के

पीछे के कक्ष से अपनी भार्या को बाहर ले आता है।

इस घटना को देखकर सभी आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इस समय वह वीर अपना परिचय देते हुए कहता है कि वह और कोई नहीं बल्कि विगत दिवस राजसभा में उपस्थित हुआ ऐन्द्रजालिक ही है और सब युद्ध-व्यापार उसकी जादू की कला का अंशमात्र था। इस पर राजा विक्रमादित्य उससे अति प्रसन्न होते हैं और उसे प्रभूत रूप से पुरस्कृत करते हैं। इस घटना में भी निक्षेप की योजना है। इसमें राजा विक्रमादित्य की दयाभावना, गुणग्राहिता और उदारता आदि गुणों का विशद रूप से उद्घाटन हुआ है। इस योजना के माध्यम से आख्यानकार ने विक्रमादित्य के उदात्त गुणों को तो प्रकाशित किया ही है, साथ ही इस तथ्य को भी उजागर किया है कि भारत में किसी समय अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की इन्द्रजालविद्या विद्यमान थी।

इस प्रकार निक्षेप अथवा न्यास का सैद्धांतिक विवेचन तो हमें स्मृतिग्रंथों में मिलता है जो बाद का है। किन्तु संस्कृतवाङ्मय में 'निक्षेप' की कल्पना अति प्राचीन है- कहीं सांकेतिक तो कहीं बड़ी स्पष्ट और सीधी। निक्षेप को हमारे साहित्यकारों ने समझा था। न केवल उन्होंने समझा था, बल्कि निक्षेपयोजना को अपनी कृतियों में स्थान देकर पात्रों के चरित्रों को उन्होंने उज्ज्वल रूप प्रदान किया। नाटकों में कथावस्तु को गति प्राप्त हुई। कहीं-कहीं तो पात्रों के मन के अन्तर्द्वन्द्व को उद्घाटित करने में निक्षेप की योजना से सहायता मिली है।

स्मृतिग्रंथों में तो निक्षेप अथवा न्यास की परिधि में केवल धन-संपत्ति आदि ही आते हैं, किन्तु संस्कृत के कवि की दृष्टि बड़ी व्यापक रही है। उसकी निक्षेप-परिधि में धन-संपत्ति तो है ही। राज्यवैभव भी है। मानव भी है। संस्कृत के कवि ने तो विद्या को भी धरोहर माना है, ताकि दाता और ग्रहीता दोनों उसकी संरक्षा के लिए सतत तत्पर और जागरूक रहें। संस्कृत साहित्य में तो विश्वास का भी निक्षेप या न्यास के रूप में व्यवहार हुआ है जो स्वयं किसी भी निक्षेप का आधारभूत तत्त्व है। □

सच्चेण सुहं क्खु लब्भइ सच्चालावि ण होइ पादई।
सच्चं त्तिं दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि॥
(सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापी न भवति पातकी।
सत्यमिति द्वे अक्षरे मा सत्यमलीकेन गूहय॥)

– मृच्छकटिक

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय

कबीर का, अपने युग के निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों में, विशिष्ट स्थान है। उनकी विशेषता यह रही है कि वे जो भी कहते थे, सबके कल्याण की भावना से कहते थे और निर्भीक होकर कहते थे। उन्होंने अपने जीवन में इसकी कभी चिन्ता नहीं की, कि लोग उनके विचारों को पसन्द करेंगे अथवा नहीं। विचारों की जो निर्भीकता कबीर ने पाई थी, संस्कृत साहित्य में वही निर्भीकता महाकवि भवभूति में देखने को मिलती है, उन्होंने तो यहां तक कहा था -'मेरे काव्य के मर्म को जो आज नहीं समझ पा रहे हैं, उनके लिए मैंने अपने काव्य की रचना नहीं की है। किन्तु आने वाले युगों में अवश्य मेरे काव्य को समझने वाला कोई जन्म लेगा, क्योंकि काल की तो कोई सीमा नहीं है, और यह पृथ्वी बड़ी विशाल है।'

कबीर ने अपने युग के समाज में व्याप्त दूषणों को यथाशक्ति उजागर करने का यत्न किया। उन्होंने समाज की बुराइयों पर निडर होकर प्रहार किये। समाज के किसी वर्ग को उन्होंने नहीं छोड़ा। समाज में श्रेष्ठता का आधार उन्होंने जाति, धर्म अथवा वर्ण को कभी नहीं माना। किसी धर्म की कभी निन्दा नहीं की, किन्तु धर्म की आड़ में व्याप्त बाह्याचार और व्यर्थ के आडम्बर को उन्होंने पूरी शक्ति से नकारा। आत्म-विश्वास के धनी कबीर ने अन्धविश्वास का सर्वदा प्रबल विरोध किया। उनकी वाणी में समाज में व्याप्त विकृत व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर गूंजता है, और उस स्वर में क्रान्ति का संकेत मिलता है।

कबीर की यह विशेषता रही है कि अपनी सरल अटपटी भाषा में जीवन के गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को भी वे अभिव्यक्त कर देते थे। एक प्रसंग में कबीर एक चक्की का दृष्टांत प्रस्तुत करके संसार की अनित्यता निरूपित करते हुए कहते हैं-

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।

दो पाटों के बीच में बाकी बचा न कोय॥

लोक में देखा गया है, कि जब चक्की चलती है, तो उसमें डाले जाने वाले अन्न के दाने चक्की के दोनों पाटों के बीच में आकर पिस जाते हैं। पाटों के बीच में आया हुआ कोई भी कण बिना पिसा नहीं रह पाता। यह एक सच्चाई है।

इस पद्य का आध्यात्मिक पक्ष भी है। कबीर का उसी की ओर संकेत है। कबीर का ऊपर दिए पद्य में अभिप्राय यह है, कि संसार में जन्म-मरण के इस चक्र में, दो पाटों के बीच में, सभी प्राणधारी नित्य पिस रहे हैं। उससे कोई भी नहीं बच सका। कबीर का कथन अक्षरशः सत्य है। सृष्टि के आदि से ही प्राणी क्षण-क्षण काल-कवलित होते देखे जा रहे हैं, और उससे कोई भी अपने को नहीं बचा सका।

कबीर ने अपनी बात को इसी बिन्दु पर विराम दे दिया, मानों वे चाहते थे कि इस जटिल पहेली का और भी कोई हल प्रस्तुत करें। प्रायः देखा गया है कि महापुरुषों के साथ सदा कुछ न कुछ किंवदंतियाँ अवश्य जुड़ जाया करती हैं। कबीर के साथ भी ऐसा ही हुआ। ऐसा कहा जाता है कि उनका एक पुत्र था, जिसका नाम था कमाल। उसके जीवन का उद्देश्य, मात्र धन-संग्रह करना था। इससे कबीर अत्यन्त दुःखी थे। उन्हें ऐसा लगने लगा था कि उनके पुत्र की इस धन-संचयी प्रवृत्ति के कारण उनका वंश कलंकित हो रहा है-

राम नाम को छोड़कर भर लै आयो माल।

डूबा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल।।

किन्तु आश्चर्य का विषय यही है कि इसी पुत्र कमाल ने अपने पिता की पहेली का समाधान अपने ढंग से प्रस्तुत कर दिया। कमाल ने कहा कि यह सत्य है कि जब चक्की चलती है, तो दोनों पाटों के बीच में आने वाले सभी दाने पिस जाते हैं। उनमें से कोई भी दाना बिना पिसा नहीं बचता, किन्तु फिर भी जो दाने बीच की खूँटी के आसपास पड़े रहते हैं, वे नहीं पिसते।

चलती चक्की देखकर हँस्यो कमाल ठठाय।

जो खूँटी से लगि रहै, ताकी पिसे बलाय॥

कमाल की इन पंक्तियों का अर्थ जितना लौकिक धरातल पर सही है, उतना ही वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी सटीक है। यह सत्य है कि संसार में जन्म-मरण के चक्र में सभी प्राणधारी निरन्तर पिस रहे हैं। इन दो पाटों के बीच में कोई नहीं बच सका, किन्तु यह भी सत्य है कि जिसने जगत की सर्वोच्च सत्ता से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया- जिसने जगत् की आधारभूत उस खूँटी को पकड़ लिया, अर्थात् उसी का हो लिया-तो वह निश्चित ही इस संसरण प्रक्रिया से छुटकारा पा जाता है। फिर उसे जन्म-मरण की इस चक्की में नहीं पिसना पड़ता।

कमाल से जुड़ी इस किंवदंती में सच्चाई जो भी हो, किन्तु उसमें कबीर की पहेली का दोनों स्तर पर समाधान मिलता है- लौकिक स्तर पर भी, और आध्यात्मिक स्तर पर भी।

कबीर जिस युग में अवतीर्ण हुए थे, उसमें शासक वर्ग निरंकुश और कठोर था तथा समाज का समर्थ तपका, निचले तपके को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। समाज के इस वर्ग की किसी को चिन्ता नहीं थी। किसी को उसके प्रति सहानुभूति नहीं थी। एक ओर वह, नृशंस शासन और दूसरी ओर समाज की घोर उपेक्षा तथा तिरस्कार का शिकार हो रहा था। किसी को इस वर्ग के बौद्धिक उन्नयन की चिन्ता नहीं थी। इनके अज्ञान को दूर करने की दिशा में कोई भी प्रयत्नशील नहीं था। इनके बीच फैले अन्ध विश्वास ने अपनी गहरी जड़ें जमा ली थीं। सब प्रकार से दलित यह वर्ग शासन और समाज रूपी दो पाटों के बीच में पिस रहा था। संवेदनशील कबीर का मन इससे अत्यन्त व्यथित था। समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना से तो उनका विरोध था ही। उन्होंने समझ लिया कि जब तक समाज में अन्धविश्वास का बोलबाला रहेगा, समाज पिछड़ा का पिछड़ा बना रहेगा। इसीलिए उन्होंने समाज के इस तपके को सहारा दिया और उन्हें अन्धविश्वास से मुक्ति दिलाने की दिशा में प्रयत्न किया। उन्हें विश्वास था कि अन्धविश्वासों से मुक्त होने पर इस तपके का ऊपर के दो पाटों के बीच पिसने से, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इस प्रकार पिछड़े समाज में आत्मविश्वास का प्रादुर्भाव हुआ और लोगों में नयी चेतना जगी। अपने समय के दलित-पीड़ित समाज के लिए कबीर का यह बड़ा योगदान था। यहां कबीर के व्यक्तित्व का संवेदनशील पक्ष उद्‌घाटित होता है। समाज के प्रति उनका दायित्वबोध उजागर होता है। सच्चा कवि-हृदय न तो कभी अपने युग की परिस्थितियों की अनदेखी कर सकता है, और न कभी वह अपने कर्त्तव्य से विमुख हो सकता है।

कबीर ने जीवन का गहरे पैठकर साक्षात्कार किया था। उनका व्यक्तित्व, सामाजिक दायित्व-बोध, उनके दार्शनिक को कभी भी आच्छन्न नहीं कर सका। सारी परिस्थितियों के मध्य उनका दार्शनिक कबीर कभी सुप्त नहीं रहा। जीवन के अन्तिम लक्ष्य को कभी भी उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया, और पारमार्थिक सत्य को सदा सामने रखा।

'घूंघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे' इस पंक्ति में कबीर ने सृष्टि की

सर्वोच्च सत्ता से साक्षात्कार के लिए, संसार से मुक्ति पाने के लिए, उपाय बतलाया है कि प्राणी अपने भीतर के नेत्र- ज्ञानचक्षु-खोले अर्थात् अपने भीतर बैठे को अपनी अन्तर्दृष्टि से देखे। जीवन के अति गूढ़ तत्त्व को कबीर ने जन-जन के लिए, जन-जन की भाषा में व्यक्त किया है। यह बात वही है जो हमारे तत्त्वदर्शी ऋषियों ने कही है। 'ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः' में उसी तत्त्व का उद्घाटन मिलता है। वहाँ भी यही कहा गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि- परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। सभी संशय विनष्ट हो जाते हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है। यही बात कबीर ने अपने युग में, अपने ढंग से कही। भारतीय दर्शन के अति गूढ़ तत्त्व को सीधी-सादी भाषा में व्यक्त कर देने में कबीर सफल रहे हैं।

कबीर ने विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन भले ही न किया हो, किन्तु उन्हें नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा सहज प्राप्त थी। उसी के बल पर उन्हें जीवन के गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त था। इसीलिए उनकी वाणी में परम तत्त्व-शाश्वत सत्य-का उद्घाटन मिलता है। कबीर हर परिस्थिति में जीवन को पवित्र बनाये रखने के हामी रहे हैं। करुणा, धर्म, प्रेम, सन्तोष, सहिष्णुता, परदुःखकातरता तथा पवित्राचरण को जीवन के लिए उन्होंने सदा आवश्यक माना। इसका उन्हें सदा ध्यान रहा है कि उनकी झीनी चादर कभी मैली न हो।

दास कबीर जतन से ओढ़ी।
ज्यौं की त्यौं धर दीनी चदरिया।।

❑

कबिरा खड़ो बजार में सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥

– कबीरवाणी

विषपायी हरदौल

बुंदेलखण्ड की माटी के सपूत कुँवर हरदौल बुंदेलों के लाड़ले वीर थे। ये ओरछानरेश महाराज वीरसिंह के सुपुत्र और जुझारसिंह के छोटे भाई थे। दोनों भाई- जुझारसिंह और हरदौल-वीरोचित गुणों से युक्त थे, तथा बुंदेलखण्ड की धरती के प्रति समर्पित थे। दोनों भाईयों के बीच अटूट प्रेम था। उस समय दिल्ली में मुगल बादशाह शाहजहाँ का शासन था। महाराज वीरसिंह के बाद ओरछा के शासन की बागडोर बड़े भाई जुझारसिंह के हाथों में आयी। जुझारसिंह के शौर्य की कीर्ति दिल्ली तक फैली हुई थी। मुगल सम्राट् शाहजहाँ, जुझारसिंह के साहस, वीरता और पराक्रम से विशेष रूप से प्रभावित था। अत: एक समय उसने उन्हें दक्षिण में सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित करने हेतु वहाँ का शासनभार सौंपा। जुझार सिंह ने यह कार्य सहर्ष स्वीकार किया।

ओरछा राज्य का उत्तरदायित्व अपने छोटे भाई हरदौल को सौंपकर तथा अपनी महारानी चम्पावती को राज्य के हित में समुचित परामर्श देकर वे अपने अभियान पर निकल पड़े। साहस, शौर्य और पराक्रम में वीर हरदौल भी अपने बड़े भाई जुझारसिंह से उन्नीस नहीं थे। वे ओरछा की आन, बान और शान थे। ओरछा की प्रजा को वे असीम प्रिय थे। थोड़े ही समय के शासन में उन्होंने ओरछा की प्रजा का हृदय जीत लिया।

ओरछा की प्रतिष्ठा हरदौल को प्राणों से भी प्यारी थी। जब भी बाहर से किसी ने ओरछा की प्रतिष्ठा को चुनौती दी, तब ही, वीर हरदौल ने आगे आकर उस चुनौती को स्वीकार किया और ओरछा की प्रतिष्ठा की रक्षा की। एक समय दिल्ली से आये एक पहलवान ने ओरछा की ताकत को ललकारा और कहा कि जिसे अपनी जान प्यारी न हो, वह सामने आकर अपने भाग्य का निपटारा कर ले। ओरछा ने इस तीखी चुनौती को स्वीकार किया। तीन दिन के खूनी संघर्ष में प्रथम दो दिन तो मैदान उस पहलवान के हाथ रहा, किन्तु अन्तिम दिन वीर हरदौल की तलवार के वार ने उसका काम तमाम कर दिया और इस प्रकार विजयश्री ने ओरछा का वरण किया। सारे राज्य में विजय का उत्सव मनाया गया।

हरदौल का अपनी भाभी रानी चम्पावती के प्रति असीम आदर का भाव

था। भाभी का भी अपने देवर के प्रति सहज वात्सल्यभाव था। किसी भी ओर से स्वार्थ अथवा कपट का लेशमात्र नहीं था। अपने देवर की अद्वितीय विजय पर भाभी के आनन्द की सीमा न थी। जैसे ओरछा की सारी प्रजा विजय से आह्लादित हो रही थी, वैसे ही उसे भी अपार प्रसन्नता थी।

इसी समय अपने अभियान को सफलतापूर्वक पूरा करके जुझारसिंह दक्षिण से लौटे। अपने पति के आगमन से रानी क़ा हर्ष दूना हो गया। इस समय वह सबसे अधिक आनन्द विभोर थी। समस्त ओरछा राज्य आनन्दोत्सव मनाने में मग्न था।

विजयोत्सव के बाद रात्रि में दोनों भाई जुझारसिंह और हरदौल एक साथ भोजन करने के लिए बैठे। दोनों भाई आज बड़े समय के बाद एक साथ भोजन के लिए बैठे थे। अत: दोनों के मन अति प्रसन्न थे। रानी चम्पावती के द्वारा दो थालियाँ परोसी गयीं- एक राजा जुझारसिंह के लिए सोने की तथा दूसरी छोटे भाई हरदौल के लिए चांदी की। रानी का हृदय इस समय आनन्द की हिलोरें ले रहा था। आनन्दातिरेक की उस घड़ी में थालियाँ परोसते समय उससे कुछ चूक हो गयी। सोने की थाली उसने देवर हरदौल के सामने रख दी और चाँदी की थाली अपने पति के सामने। भाइयों के मन में थाली परिवर्तित हो जाने का कुछ भान नहीं था। दोनों भाइयों ने सहजभाव से प्रसन्नतापूर्वक भोजन किया। उस समय तक दोनों में से किसी के मन में कोई अन्यथा भाव ही नहीं था, कि कौन सोने की थाली में भोजन कर रहा है और कौन चांदी की थाली में। दोनों ही निश्छल प्रेम के धनी थे। किन्तु भाग्य का विधान तो कुछ और ही था। राजमहलों में किसी भी समय चुगलखोरों की कमी नहीं रही।

इस स्थिति का लाभ महल के उन चुगलखोरों ने उठाया, जिन्हें ओरछा की सुख-शान्ति प्रिय न थी, जिन्हें दोनों भाईयों के मधुर सम्बन्ध अच्छे नहीं लगते थे और हरदौल की बढ़ती लोकप्रियता जिनकी आँखों की किरकिरी थी। शीघ्र मौका पाकर एक ऐसा ही दुष्ट चुगलखोर जुझारसिंह के पास पहुँचा और महारानी चम्पावती तथा हरदौल के विरुद्ध उनके कानों में उसी प्रकार जहर घोल दिया, जिस प्रकार मन्थरा ने कैकेयी के कानों में घोला था। विष का प्रभाव तत्काल हुआ। जुझारसिंह के मन में अपनी पत्नी की पवित्र निष्ठा के प्रति सन्देह उत्पन्न हुआ और हरदौल के आचरण के प्रति अविश्वास। तुरन्त उन्होंने रानी को बुला भेजा और भोजन की थालियों की अदला-बदली की घटना के सम्बन्ध में उससे जानना चाहा,

कि उसने ऐसा क्यों किया। रानी एकदम स्तब्ध रह गयी। निर्मलहृदय रानी को तो इसका भान भी न था, कि उससे ऐसी कोई भूल भी हो गयी है। किन्तु जुझारसिंह के मन पर तो चुगली का पूरा-पूरा असर हुआ। रानी की किसी भी सफाई को सुनने के लिए वे तैयार नहीं थे। क्रोधपूर्ण स्वर में उन्होंने रानी से कहा कि वह अपने सच्चरित्र होने का प्रमाण दे और इसके लिए उसे हरदौल को विष देना पड़ेगा। रानी अपने पति के इस निर्मम निर्णय से सन्न रह गयी। किन्तु जुझारसिंह पर इसका कोई असर नहीं पड़ना था। रानी ने लाख अनुनय-विनय की और कहा, कि छोटा भाई हरदौल अपने लिए पुत्रवत् है तथा बिलकुल निष्कलुष, निरपराध है। अपने पति के मन की सन्तुष्टि के लिए उसने स्वयं विष ग्रहण करने का भी प्रस्ताव रखा, किन्तु जुझारसिंह पर उसका भी कोई असर नहीं हुआ। रानी बड़ी दुविधा में थी। उसके सामने महान् धर्मसंकट उपस्थित था। एक ओर उसे अपने पति को अपने सच्चारित्र्य का प्रमाण देना है और दूसरी ओर निष्पाप पुत्रतुल्य देवर को अपने हाथों से विष देना है। उसके लिए कठिन परीक्षा की घड़ी थी। वह बैचेन हो रही थी।

बात धीरे-धीरे हरदौल के कानों तक पहुँची। उसने अपनी मातृवत् पूज्य भाभी की स्थिति को समझा और अनुमान लगाया कि कैसे अचानक ऐसी भयानक स्थिति बन गयी, कि बड़े भाई जुझारसिंह के मन में सन्देह के कीड़े ने प्रवेश किया। आन की रक्षा के लिए बुन्देले कभी अपने प्राणों का मोह नहीं करते। अपनी भाभी को महान् धर्मसंकट से बचाने तथा अपने भाई के मन में उत्पन्न सन्देह को दूर करने का इससे और अच्छा कोई दूसरा अवसर नहीं हो सकता था। तत्काल वह तैयार हुआ और जुझारसिंह की इच्छा पूरी करने के लिए उनके चरणों में उपस्थित हो गया तथा सिर झुकाकर आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। किसी के मन पर जब चुगली का पूरा-पूरा असर हो जाता है, तब उसका सारा विवेक पूर्णतः नष्ट हो जाता है। यही स्थिति इस समय जुझारसिंह की थी। इस समय उनके सिर पर खून सवार था। उनने वही किया, जो उन्हें करना था। परिणाम में जुझारसिंह को झोली में उसी प्रकार घोर अपयश आया, जिस प्रकार अयोध्या में कैकेयी की झोली में आया था। हरदौल ने शान्तभाव से विष ग्रहण किया। देखते-देखते क्षण भर में हरदौल के प्राणपखेरू उड़ गये। इस घटना की खबर सारे ओरछा में जंगल की आग के समान फैल गयी। सर्वत्र हाहाकार होने लगा। ओरछा की सारी प्रजा जुझारसिंह के उस कृत्य के लिए उन्हें धिक्कार रही थी और कुँवर हरदौल के इस अपूर्व बलिदान पर श्रद्धा से अपना

सिर झुका रही थी। बुन्देलखण्ड में वीर हरदौल के बलिदान की यह लोककथा जितनी वहाँ के जनमानस में बैठी हुई है, उतनी शायद और कोई लोककथा नहीं।

बुन्देलखण्ड का जनमानस हरदौल से भावनात्मक रूप से कुछ ऐसा जुड़ा हुआ है, कि उसने जुझारसिंह को उनकी निर्दयता के लिए कभी क्षमा नहीं किया। बुन्देली लोकगीतों में इसी आशय के बोल मुखरित मिलते हैं।

हरदौल विषपान कर अमर हो गये। बुन्देलखण्ड में आज भी हरदौल देवता के रूप में पूजे जाते हैं। बुन्देलखण्ड के गाँव-गाँव में उनके चबूतरे बने हुए हैं और मूर्तियाँ स्थापित हैं। दूर-दूर तक उनका यश फैला हुआ है।

इतिहास में हरदौल के बलिदान का एक ऐसा अनुपम उदाहरण है, जिसमें मृत्यु के पश्चात् भी किसी वीर को इतनी अटूट श्रद्धा के साथ देवता के रूप में पूजा जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में घर के किसी भी शुभ कार्य में सर्वप्रथम लाला हरदौल को ही, लोकगीतों के माध्यम से स्मरण किया जाता है। विवाह के अवसर पर पूजा में सबसे पहिला निमन्त्रण हरदौल को दिया जाता है और मंगल कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु कृपा और आशीर्वाद की उनसे प्रार्थना की जाती है। ❑

> जे भैया भैया खों मारें, उन पै गाज गिरैयो।
> नजरियों के सामने, हरदौल लाला रहियो॥
>
> – बुंदेली लोकगीत
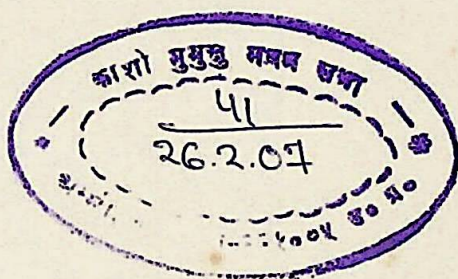
डॉ0 रामकृष्ण सराफ : परिचय

1. **जन्म :-** 17 अगस्त 1929 जबलपुर (म.प्र.)
2. **शैक्षणिक उपलब्धियाँ :-**
   एम.ए. (संस्कृत) (1956) प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान, सागर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)
   एल-एल.बी. (1954) सागर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)
   शास्त्री (साहित्य) (1960) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयं वाराणसी (उ.प्र.)
   पी-एच.डी. (1979) जबलपुर विश्वविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)
3. **सेवा-विवरण :-**
   मध्य प्रदेश शिक्षा सेवा में नियुक्ति दिनांक 01.11.1956 एवं सेवानिवृत्ति दिनांक 31.08.1989.
   क. अध्यापन :-
   (1) भाषा तथा अनुसंधान संस्था जबलपुर (म.प्र.)
   (2) महाकोशल महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)
   (3) शासकीय महाविद्यालय बालाघाट (म.प्र.)
   (4) शासकीय टी.आर.एस. स्नातकोत्तर महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)
   (5) शासकीय के.आर.जी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)
   (6) शासकीय हमीदिया कला वाणिज्य विधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय भोपाल (म.प्र.)
   (7) शासकीय संस्कृत महाविद्यालय भोपाल (म.प्र.)
   ख. प्रशासकीय :-
   उच्च शिक्षा संचालनालय मध्य प्रदेश भोपाल में वर्ष 1983 से वर्ष 1986 तक उप संचालक/विशेष कर्त्तव्यस्थ अधिकारी के पद पर पदस्थ।
4. **साहित्यिक सेवाएँ एवं शोध संगोष्ठी :-**
   (1) 125 मे अधिक लेख/समीक्षाएँ, संस्कृत/ हिन्दी/ अंग्रेजी में प्रदेश/देश की मासिक/ त्रैमासिक/ वार्षिक, शोध पत्रिकाओं/ आध्यात्मिक/साहित्यिक/ सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।
   (2) अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलनों में वर्ष 1972 से 1986 तक निरन्तर प्रतिनिधि एवं शोध पत्र पठित।
   (3) राष्ट्रीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन जयपुर (1978) विश्व संस्कृत सम्मेलन प्रयाग (1979) पंचम विश्व संस्कृत सम्मेलन वाराणसी (1981) तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन नई दिल्ली (1983) भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन जयपुर (1985) में राज्य से प्रतिनिधि।
   (4) राज्य स्तरीय, विश्व विद्यालयीन तथा अन्य प्रतिष्ठित सारस्वत अनुष्ठानों में सर्वदा सक्रिय योगदान।
5. **आकाशवाणी :-**
   आकाशवाणी भोपाल से वर्ष 1974 से निरन्तर संस्कृत/हिन्दी में वार्ताएँ प्रसारित।
6. वर्तमान में अध्ययन/लेखन कार्य।

आवास :- ई-7/562, अरेरा कॉलोनी भोपाल (मध्य प्रदेश)
पिन 462016.   दूरभाष क्रमांक : 566138